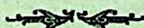
Dupl

॥ श्रीः ॥

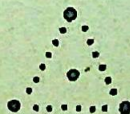
श्रीमातृभाषाप्रचारकग्रन्थमालायाः तृतीयं पुष्पम् —



आत्मविलासः

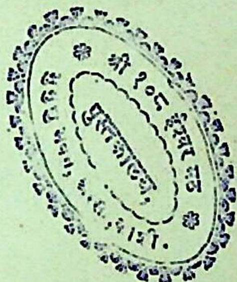


सुन्दरीसहितः



प्रणेता—

अ० वा० आचार्यः



पुनर्मुद्रणाद्यधिकारा ग्रन्थकर्त्रधीनाःसन्ति ।

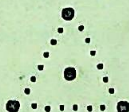
॥ श्रीः ॥

श्रीमातृभाषाप्रचारकग्रन्थमालायाः तृतीयं पुष्पम्—

आत्म-विलासः

महामहिम—आचार्य—श्रीमदमृतवाग्भवप्रणीतः ।

स्वकृत "सुन्दरी" इत्याख्यराष्ट्रभाषाव्याख्याविभूषितः ।



प्रकाशक—

पं० हरिभानुदत्त शास्त्री

अध्यक्ष—मातृभाषाप्रचारक विद्यालय व ग्रन्थमाला

बाज़ार खू कौड़ियां अमृतसर (पञ्जाब)।

मुद्रक—ला० केशवचन्द्र हाँडा बी. ए., मैनेजिंग प्रोपाइटर,
हाँडा इलैक्ट्रिक प्रेस, जालन्धर शहर ।

शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है।

हिन्दी अनुवाद सहित

श्रीराष्ट्रालोकका

श्रीराष्ट्रसञ्जीवनसंस्कृतभाष्य

इसके विषयमें संक्षेपसे ही हम ग्राहकोंको सूचित करते हैं, कि यह ग्रन्थरत्न सम्पूर्ण साहित्य-सागरका सार है। इसके जोड़ का ग्रन्थ आज तक संसारभरके किसी भाषाके साहित्यमें नहीं लिखा गया। ग्रन्थ क्या है, सम्पूर्ण राष्ट्रिय-विषयोंका हृदय है। इसके लेखक भी एक प्रसिद्ध दार्शनिक महात्मा हैं। ग्रन्थमें प्रणेताने स्वाभाविक पूर्णविज्ञानके आधार पर सम्पूर्ण मानवकर्तव्य तथा स्वभावका उस विशेषतासे प्रतिपादन किया है, कि जो एक अत्यन्त नवीन, सुललित, स्वभाव शुद्ध, तथा प्रकृतिसिद्ध हो सकती है। वहुत क्या "गागरमें सागर है" और अत्यन्त अद्भुत है। इस ग्रन्थकी महत्ता तथा उपादेयताका इसीसे अनुमान कर सकते हैं, कि मूल पुस्तकके केवल १४ पृष्ठोंका यह भाष्य १४०० सौ के लगभग पृष्ठोंमें हुआ है।

इस ग्रन्थका स्वाध्याय प्रत्येक राष्ट्र-हितैषीका परम प्रधान कर्तव्य है। यह ग्रन्थ हिन्दीवेत्ताओंकेलिये भी उतनाही उपयोगी है, जितना कि संस्कृतज्ञोंकेलिये। इस ग्रन्थको न पढ़नेवाले आजन्म पछतायेंगे।

श्रीपरशुराम-स्तोत्र

हिन्दी-टीका-सहित

यह एक अत्यन्त ओजस्विनी भाषामें लिखा हुआ भगवान् श्री परशुरामका स्तोत्र है। भारतके अनेकों पत्र पत्रिकाओंने तथा विद्वानोंने इसकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है। उनमें से एक यहां उद्धृत करते हैं—

"यह ग्रन्थ अवश्य ही भारतीयोंमें भगवद्भक्ति एवं दुःशासनान्त-करणी शक्तिका सञ्चार करेगा। अतः प्रत्येक राष्ट्र-भक्तका कर्त्तव्य है कि वह इसे अवश्य पढ़े, यह ग्रन्थ भव्यचित्रसे सुसज्जित" है आप इसीसे इस स्तोत्रकी महत्ता तथा उपादेयताका अनुमान कर सकते हैं। हिन्दी टीका सहित यह पुस्तक दो आनेके टिकट भेजनेसे प्राप्त हो सकती है।

श्री राष्ट्राऽऽलोक

यह राष्ट्रिय विषयका अद्भुत मौलिक ग्रन्थ है। इसकी 'सरस्वती' 'स्वराज्य' 'हिन्दी मिलाप' आदि पत्र पत्रिकाओंने भूरि भूरि प्रशंसा की है। संक्षेपमें कह सकते हैं कि इसके पढ़नेसे समग्र राष्ट्र रहस्य तथा राष्ट्रियोंके सम्पूर्ण कर्त्तव्य स्पष्ट प्रतीत होने लग पड़ते हैं। भारतीय साहित्यमें यह बेजोड़ ग्रन्थ है। इस ग्रन्थके सम्बन्धमें अधिक कहना सूर्यको दीपक दिखाना है।

यह पुस्तक भी ≥) आनेके टिकट भेजनेसे नीचे लिखे पतेसे प्राप्त हो सकती है।

पं० भवानी शङ्कर त्रिवेदी

प्रबन्धक श्रीमातृभाषा-प्रचारक ग्रन्थाकर खू कौड़ियाँ

अमृतसर

प्रकाशकके दो शब्द



भगवान् भूत-भावनकी अपार कृपासे आज हम अत्यन्त हर्षके साथ ग्रन्थ-मालाका यह तृतीय पुष्प आपके सामने प्रस्तुत कर रहे हैं। इस ग्रन्थ-मालाको प्रकाशित करनेका एक मात्र यही उद्देश है, कि उच्च कोटिके राष्ट्रिय धार्मिक तथा दार्शनिक हिन्दी संस्कृत ग्रन्थोंके प्रकाशन द्वारा मातृ-भाषा (हिन्दी संस्कृत) की सेवाके साथ भारतीय जनतामें उच्च भावनाओं तथा राष्ट्रिय विचारोंका सञ्चार किया जाए। तदर्थ इससे पूर्व श्रीपरशुराम स्तोत्र तथा श्रीराष्ट्रऽऽलोक नाम दो अत्यद्भुत ग्रन्थरत्न आप लोगोंको भेंट किये जा चुके हैं, जिनकी सभी विद्वानों एवं पत्र पत्रिकाओंने मुक्त कण्ठसे प्रशंसा की है। अब हम श्री आचार्य चरणका यह तृतीय ग्रन्थ "आत्म-विलास" आपकी सेवामें समर्पित कर रहे हैं। आशा है कि आप इस अद्भुत दार्शनिक ग्रन्थसे परमानन्द प्राप्त करेंगे।

ग्रन्थ आपके हाथों ही में है, अतः इस ग्रन्थकी उपादेयता या श्रेष्ठताके सम्बन्धमें कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं। यदि सहृदय सज्जन इस ग्रन्थका सम्मान कर हमारे उत्साहको बढ़ाएंगे तो शीघ्र ही ग्रन्थ मालाका चतुर्थ पुष्प भी आपकी सेवामें रख सकेंगे।

श्रीपञ्चमी १९९३ वि०
श्री मातृभाषा प्रचारक ग्रन्थाकर,
अमृतसर

निवेदक—
राष्ट्रहितैषी
पं० हरिभानु दत्त शास्त्री

सूचीपत्र

॥ श्रीः ॥

※ नम्र निवेदन ※

कई वर्षोंकी बात है, हम घूमते २ काश्मीरमें गये थे, तथा वहां 'हवाल' नामके गांवमें ठहरे थे। वहांके एक ब्राह्मणने आध्यात्मिक सम्बन्धमें कुछ शङ्का प्रदर्शित की थी, हमने भी यथाशक्ति उसका निवारण किया, उससे उसके हृदयको सन्तोष हुआ। तदनन्तर उसने हमसे प्रार्थना की कि आप सङ्क्षिप्त तथा सरल एक ग्रन्थ लिखें, जो सम्पूर्ण आध्यात्मिक शङ्काओंको पूर्णरूपसे निवृत्त करे, हमने उसकी प्रार्थना मान ली तथा पांच दिनके समयमें ही 'आत्मविलास'नामक यह ग्रन्थ लिख डाला। यहां एक आवश्यक निवेदन यह है, कि यह ग्रन्थ केवल स्वाऽनुभवसे बनाया गया है। सम्भव है कई लोगोंको इसमें प्रतिपादित सिद्धान्तसे विरोध रहे, परन्तु किसी कविके—

"अत्युन्नतिस्फोटितकञ्चुकानि वन्द्यानि कान्ताकुचमण्डलानि"

इस उक्तिके अनुसार स्वतन्त्रमत-प्रतिपादक यह ग्रन्थ आदरणीय ही होगा। परप्रत्ययनेयबुद्धि लोगोंको अच्छा न लगे तो न सही। इसमें कोई हानि नहीं। अनन्तर कुछ समयके कई लोगोंके कहनेसे हमने इसका अर्थ सँवादरूपमें लोगोंको समझाया था, वही पञ्जाबके एक ब्राह्मणने लिख लिया, तथा वही आज आत्मविलासकी व्याख्याके रूपमें आपके सामने उपस्थित हो रहा है। हम जानते हैं कि इसकी भाषा हिन्दी (भारतकी वर्तमान राष्ट्रभाषा) सुललित नहीं है, तथा द्विरुक्ति—त्रिरुक्तिदोष दूषित भी है, परन्तु यह व्याख्या व्याख्याके ढंग पर लिखी ही नहीं है, इस पर ध्यान देनेसे वह दोष भी गुण हो जाएगा। एक बात यह भी है कि हमारा विचार हिन्दीमें लिखना था ही नहीं, परन्तु हिन्दी-प्रेमी लोगोंके आग्रहके कारण इसको प्रकाशित किया जा रहा है। संस्कृतमें इस पर 'सुन्दर भाष्य' यथा समय प्रकाशित होगा, वह बड़ा विस्तृत है। अस्तु। पारसके अनुग्रहसे लोहा भी सोना हो जाता है। गुणग्राहीसज्जनों

की दया इस ग्रन्थको अत्युत्तम बना देगी। अग्रिम संस्करणमें इसके बहुत सारे दोष दूर कर दिये जाएंगे। यही इस ग्रन्थका इतिहास है। ग्रन्थकारका परिचय ग्रन्थके उपसंहारमें दिया है। अधिककी आवश्यकता नहीं।

इस ग्रन्थके प्रकाशनमें— श्रीमान् पं० हरिद्वारीलाल महाशय, पं० श्री गोपाल शास्त्री, पं० विश्वम्भरदत्त वैद्य, पं० रामनाथ शर्मा रईस, पं० उमादत्त शर्मा राजोपाध्याय, पं मुकुन्दवल्लभ ज्यौतिपाचार्य राज-ज्यौतिषी मार्तण्डपञ्चाङ्ग-कर्त्ता, पं० दुर्गाराम मास्टर. पं० हरिचन्द पटवारी पं० जोवाराम, पं० गौरीनन्द उपाध्याय, पं० हरदेव शर्मा त्रिवेदी, स० विशनसिंह, बा० छज्जूराम, पं० लक्ष्मणदास, ला० हरिरामपुरी बी. ए. एल. एल. बी. पं० ठाकुरदास मास्टर, ठा० रतनसिंह, पं० नन्दलाल शास्त्री, पं० मुन्शीराम हेडमास्टर आदि आदि लोगोंने सहायता पहुँचाई है, अतः इनको धन्यवाद हैं।

इसमें भी सुहाना निवासी पं० हरद्वारीलाल जी ने बहुत अधिक सहायता की है तदर्थं उनको विशेष धन्यवाद हैं।

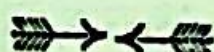
हाँडा प्रेसके मालिक ला० केशवचन्द्र जी को भी विशेष धन्य-वाद हैं। क्योंकि हमारा सभी प्रकारका सुप्रबन्ध इन्होंने किया था।

तथा मुद्रणालयके हिन्दी अक्षर सँयोजक ठा० "श्याम-गोपाल" आदिको भी धन्यवाद हैं, क्योंकि उन सबोंने बड़ी आत्मीयतासे काम किया है। उन सभीके हम चिर कृतज्ञ हैं, कि जिन्होंने इसमें थोड़ी भी सहायता पहुँचाई है। आशा है कि आगे भी इसी प्रकार सहायता पहुँ-चाते रहेंगे। यथामति यह ग्रन्थ निर्माण कर संसार को समर्पित किया है। आशा है कि इससे समस्त संसारका आत्मविलास परशिव परमात्मा सन्तुष्ट होकर परम कल्याण करेगा॥ इति शम्॥

माघ कृ. ३० गुरौ
(मौनी अमावास्या)
१९९३ वि०

निवेदक—
ग्रन्थप्रणेता,
अ० बा० आचार्यः

प्रार्थना



प्रभो ! शम्भो ! दीनं विहितशरणं त्वच्चरणयो—
र्भवारण्यादस्माद्विषमविषयाशीविषवृतात् ॥
समुद्धृत्य श्रद्धाविधुरमपि वद्धादरकरं
दयादृष्ट्या पश्यन्निजतनयमात्मीकुरु शिव ! ॥

ॐ शान्तिः ! ॐ शान्तिः !! ॐ शान्तिः !!!





॥ श्रीः ॥

ओं नमः परमाय

* आत्मविलासः *

सुन्दरीसहितः

मङ्गलाचरणम् ।

कन्दर्पदर्पशमनो सुमनोवृन्दवन्दिता ।
माद्यैका विजयते सैपा सुन्दरसुन्दरी ॥१॥

अपने आपको अणु अर्थात् छोटा या जीव समझने का ही नाम जीव होना या जन्म लेना है। यद्यपि यह भी आनन्दके ही उद्देशसे किया जाता है, फिर भी अपने पूर्णत्वका बोध भुला देनेसे पूर्णानन्दसे वञ्चित रहना पड़ता है, और फिर पूर्णानन्दकेलिये पूर्णत्वबोध करना पड़ता है। पूर्णत्वबोध होनेसे अणुत्व नष्ट हो जाता है। अर्थात् अणुका मरण हो जाता है। बस यही सापेक्ष जन्म मरण अर्थात् सृष्टि और लयका मूल रहस्य है।

इन दोनोंके बीचमें स्थितिभाव है। यह भी अपेक्षा-तारतम्यसे दो तरहका होता है, एक लयके बाद अर्थात् जन्मके पहले, और दूसरा जन्मके बाद अर्थात् लयके पहले। वस्तुतः सृष्टि और लय ये दोनों एक ही हैं। तात्पर्य यह कि शिवत्वका लय जीवत्वकी सृष्टि और जीवत्वका लय शिवत्वकी सृष्टि है। इसी तरह जीवत्वकी सृष्टि ही शिवत्वका लय, तथा शिवत्वकी सृष्टि ही जीवत्वका लय है। इस बातको भी अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। हां, यहां एक बातका और भी ध्यान रखना चाहिये, वह यह कि इन दोनोंकी स्थितिमें एक बोधको भुला देना पड़ता है। जैसे जीव-भावमें शिवभावको और शिवभावमें जीवभावको। इसी कारण एक शिवत्वस्थिति और एक जीवत्वस्थिति ऐसे दो स्थितिभाव हो जाते हैं। इन सभी तीनों कृत्योंका मूल निग्रह या शक्ति कहलाता है। इसीको विलास कहते हैं और यही अनुग्रह होता है। परन्तु तारतम्य यह है कि एकत्व अन्तःप्रकट हो, और कृत्यत्रय बहिः प्रकट हो, ऐसी आत्मदशाको निग्रह या शक्ति समझना और कृत्यत्रय अन्तःप्रकट हो और एकत्व बहिःप्रकट हो

उस आत्मदशा को अनुग्रह या शिव समझना। जब निग्रहाऽनुग्रह दोनोंका पूर्ण सामरस्य रहता है, अर्थात् गौणमुख्यभावका सर्वथा अभाव रहता है, तब वही आत्मस्वरूप तत्त्वातीत, तुर्यातीत, परशिव, परब्रह्म, परप्रकाश, परासंवित् होता है। यह कोई अवस्था नहीं है, न इसका वर्णन हो सकता है। कारण, यहां किसी भी प्रकारका भेदभाव नहीं रहता, फिर वर्णन कौन करे? इस अनुभवसे कृतकृत्यता स्वयं ही एकरस हो जाती है। अस्तु।

यहां एक बात और भी समझ रखनी चाहिये कि निग्रह और अनुग्रहके तारतम्यसे सृष्टि स्थिति और लय ये तीन कृत्य दो दो प्रकारके हो जाते हैं। ये ही दो प्रकार आपेक्षिक सदसत् कहे जाते हैं। तात्पर्य यह कि अप्रकटको असत् और प्रकटको सत् कहनेकी रीति पड़ गई है। एककेलिये जो सत् है, दूसरेकेलिये वही असत् हो सकता है। परन्तु ऐसी दृष्टि निर्णायक नहीं हो सकती। निर्णय तो समदृष्टि ही कर सकती है। समदृष्टिको ही शम्भु कहते हैं। इस तरह 'सत्' 'असत्' 'चित्' 'अचित्' 'सुख = आनन्द' 'दुःख अनानन्द' ये छः हो जाते हैं। ये सब आपेक्षिक हैं और। यहां

तमाशा यह है कि ये दोनों साथ ही साथ उत्पन्न होते हैं और साथ ही मरते भी हैं। यह सब एक विलासकी सन्तती है, सन्तती क्या वही विलास ही समझो, और यह विलास या आत्मस्वरूप ही ओर से छोर तक समरस भरा रहकर अपना आनन्द लूटता है, और यही परशिव है। तथा यही तत्त्वदर्शी है। अस्तु।

इससे अब मालूम होगया होगा कि वस्तुतत्त्व क्या है ? बस इसी रहस्यके प्रकट अनुभवकेलिये समस्त है। जब आत्मानन्दकेलिये जन्म लिया और आनन्दकेलिये ही जीवता प्रकट की, और फिर आनन्दकेलिये ही 'कोऽहं' 'कोऽहं' की रट लगाई तब आनन्दकेलिये ही मरण लिया, और जीवता मिटाई, और फिर आनन्दकेलिये ही 'सोऽहं' 'सोऽहं' की रट लगाई। ऐसी वस्तुस्थिती है और यही ग्रन्थप्रणयनका बीज है। हां, इस बातको न भूलना चाहिये कि शिवभाव और जीवभाव इन दोनोंका पूर्णबोध या पूर्णलय हुए विना पूर्णशिवभाव नहीं होता। पूर्णशिवभाव प्रकट होनेसे आत्मरहस्य खुल जाता है। फिर कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। इस पूर्ण शिवभावकी अतिदृढ़ता वर्णनसे बाहर है। अस्तु।

यहां तकके विवेचनसे यह मालूम हो ही गया होगा कि ग्रन्थप्रणयनमें क्या कारण होता है । तथा उस का फल क्या होता है । एक बात और भी समझ लेनी चाहिये, वह यह कि दर्शनभेद अपेक्षाभेदसे हुआ करता है । प्रत्येक दर्शनकी अन्तिम भूमिका एक कल्पित रहती है और फिर उसी भूमिकाका व्याख्यान साङ्गोपाङ्ग उस दर्शनमें रहता है । हां, इस बातको भी समझ लेना चाहिये, कि दर्शन हरएक परम्परया एक ही उद्देश्य रखता है । जिसकी जितनी उच्च भूमि होगी वह उतना ही उच्च होगा । अर्थात् उसके अधिकारी उतने ही उच्च होंगे । अस्तु । सारांश यह है कि हरएक ग्रन्थ दुःखनिवृत्ति और सुखप्राप्ति कराना ही अपना उद्देश्य रखता है । इसीलिये इनको शास्त्र कहते हैं । परन्तु आपेक्षिक प्रवृत्ति-निवृत्तिसे पूर्ण दुःखनिवृत्ति या पूर्णसुखप्राप्ति नहीं हो सकती । और पूर्णसुखप्राप्तिके विना पूर्णशान्ति नहीं हो सकती । अतः यह ग्रन्थ पूर्णसुखप्राप्तिका उद्देश्य रख बना है । अतः कहना न पड़ेगा कि इसके अधिकारी कौन हैं ? हां, इसको बच्चेसे बूढ़े तक और म्लेच्छसे ब्राह्मण तक सब पढ़नेके अधिकारी हैं । परन्तु समझमें उन्हींके आएगा जिनको सद्गुरुसे यथाविधि पढ़नेको मिलेगा ।

आत्मानन्द ही इसमें विषय है। ग्रन्थ और विषयका प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव सम्बन्ध है, यह क्या कहना होगा ? अस्तु।

निर्विघ्न ग्रन्थसमाप्ति होनेकेलिये और शिष्योंको सदाचारकी शिक्षा देनेकेलिये तथा तन्त्रसे सम्पूर्ण शास्त्ररहस्यबीजको प्रकट करनेकेलिये नमस्कारात्मक वा वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण किया जाता है—

अभिनवरमणीयं सच्चिदानन्दकन्दं
स्वनवनवविलासोल्लासनैकप्रवीणम् ॥
अनुभवसुरहस्यं मङ्गलं मङ्गलाना-
मधिहृदिपरमेशं मौनमेवाऽऽश्रयेऽहम् ॥१॥

सभी तरफसे और सभी तरहसे जो नया है, इसीलिये जो सुन्दर है। तात्पर्य यह कि कल्पित पदार्थ सब तरफसे और सब तरहसे नया नहीं हो सकता। कारण, उसकी नवीनता क्षणिक है। इसीलिये उसको पूर्णरूपसे सुन्दर कहना नहीं बनता। अथवा अभिमुख होनेसे नया होता है, और नया होनेसे ही क्रीड़ा करने योग्य है। जैसे नौजवान पुरुषको नौजवान स्त्रीके तथा नौजवान स्त्रीको नौजवान पुरुषके सम्मुख होते

ही अर्थात् चार चार आंखें होते ही नवीनता मालूम होती है । और फिर दोनों परस्पर क्रीड़ा करनेके योग्य हो जाते हैं । बस इसी तरह आत्मतत्त्व भी अभिमुख होने से नया होता है, और फिर वह क्रीड़ा करनेके योग्य होता है । तात्पर्य यह है, कि आत्मतत्त्व अपने आनन्द-केलिये अपने विलाससे जीव और शिवभावसे अर्थात् परतन्त्र और स्वतन्त्र भावसे द्विविधकी तरह हो कर परस्पराऽभिमुख होता है । तो फिर नया मालूम होने से क्रीड़ा करने योग्य होता है । यह ठीक भी है । अपने आप से बढ़कर सुन्दर भी कोई नहीं और अपनेसे अधिक क्रीड़ा करने योग्य भी कोई नहीं हैं । व्यवहारमें नित्य ही यह बात दिखाई देती है । देखिये; कितनी भी कुरूप अपनी सन्तती हो पर दूसरे के सुन्दर सन्तान की अपेक्षया अपनी कुरूप सन्तती ही प्रिय लगती है । और क्या, अपनी कीर्ति सुननेमें जितना सुख होता है, उतना सुख दूसरेकी कीर्ति सुननेमें नहीं होता । शीशेमें अपना मुख देखते हुए जितना आनन्द आता है उतना दूसरे का मुख देखनेमें नहीं आता । देखिये, अपने आपको शीशेके द्वारा अभिमुख होनेसे कैसा अपूर्व

आनन्द होता है ? क्योंकि आभिमुख्यसे नवीनता और नवीनतासे सुन्दरता प्रकट होती है। और फिर सुन्दर ही तो क्रीड़ा करने अर्थात् रममाण होने योग्य होता है, क्या यह कहना पड़ेगा ? अभिमुख होनेसे ही स्तुती करने योग्य होता है। और तभी रमणीय अर्थात् सुन्दर या क्रीड़ा करने योग्य होता है। आत्मतत्त्व यदि अभिमुख न हो तो स्तुती कौन किसकी करेगा ? और फिर सुन्दरताको कौन किसके निहारेगा ? तब क्रीड़ा तो बहुत ही दूर रह गई न ? तात्पर्य यह है कि यह आत्मा ऐसा खिलाड़ी है कि कहते सुनते ही नहीं बनता, क्योंकि तमाशा अपने आपको दिखाता है, अर्थात् दिखाने वाला और देखने वाला यह स्वयं ही है। इस से यह सूचित कर दिया कि इस ग्रन्थमें निर्वाद अद्वत समझाया जाएगा। अस्तु। सत् चित् और आनन्द होता हुआ भी जो इनका मूल भी है। यहां कुछ बातें ऐसी हैं कि जिनको विशेष सावधानीसे दिलमें समझ रखना चाहिये। सुनिये—

परमेश्वर नाना रूपसे जब चमकता है अर्थात् निग्रहरूपको निहारता है, तब अनेक रूपोंसे परस्परा-ऽभिमुख हो कर तरह तरहकी क्रीड़ा करता है। इस

क्रीड़ामें करोड़ों ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि स्थिति संहार हो जाते हैं। उसमें सत् चित् और आनन्द इन तीनोंका ही खेल होता है। ये भी दो दो प्रकारके होते हैं। अर्थात् 'सत्' और 'असत्' ये दोनों अपेक्षासे परस्पर प्रकटाऽप्रकट-भावसे सदसत् हो कर विलसित होते हैं। इसी तरह 'चित्' और 'अचित्' तथा 'आनन्द' और 'अनानन्द' चमकते हैं। इन्ही छः भावोंको या प्रकाशों को कहिये प्रतिपादन करनेवाले छः दर्शन हो जाते हैं। अस्तु। वस्तुतः ये दो दो मिल कर ही अर्थात् पति-पत्नी हो कर ही अपने खेतीकी बोवाई, रखाई, तथा कटाई, करते हैं। बहुत क्या कहें, अपने घरके सारे ही गृहस्थीके काम ये ही करते हैं। हां, ये छः क्या हैं इनको तीन ही कहना चाहिये। इसीलिये कारिकामें तीन ही दिखाये हैं। जैसे दायां और बायां मिलकर शरीर एक ही तो होता है, बस उसी तरह ये दो दो भी एकेक ही रहते हैं। परन्तु जब एक समरस होकर चमकता है, अर्थात् अनुग्रह-स्वरूपको निहारता है, तब यही सच्चिदानन्दका कन्द अर्थात् मूल है। परन्तु इसके भी परे अर्थात् तुर्यासे परे मौन हो जाता है। अस्तु। इससे यह सूचित हुआ कि इस

ग्रन्थमें इसी विषयका विस्तृत विवरण किया जाएगा। पहले तो यह कहा कि यह परमात्मतत्त्व 'अभिनवरमणीय' है इसका ध्वनितार्थ यह है कि इसका प्रारम्भ से अन्त तक हर एक पहलू सुखप्रद ही है। मतलब यह कि इस ग्रन्थमें 'परमात्मतत्त्व' ऐसे ढंगसे समझाया जाएगा कि अत्यन्त मन्दबुद्धि भी इससे थोड़े प्रयास से ही लाभ उठा सकेगा। बुद्धिमान्की तो भला बात ही क्या है? अस्तु। फिर 'अभिनवरमणीय' क्यों है? इस शङ्काको निवृत्त करनेकेलिये ही कहा कि 'सच्चिदानन्द कन्दम्' ठीक ही तो है जो सच्चिदानन्दकन्द होगा वही तो अभिनवरमणीय होगा क्या यह भी कहना होगा? यह 'सच्चिदानन्दकन्द' क्यों है इसका उत्तर देते हैं— 'स्वनवनवविलासोल्लासनैकप्रवीणम्'। अपने आपका नये इसीलिये स्तुती करने योग्य विलाससे उल्लासन करनेमें एक मात्र चतुर, तात्पर्य यह कि यह अपने आप विलासस्वभाव होनेसे सभी तरहसे और सभी तरफसे अपने आपको चमकाते रहता है, या चमकते रहता है, बात एक ही है, कुछ भी कहो। इसी कारण अपने नानात्वमें सद्रूपसे चिद्रूपसे आनन्दरूपसे सच्चि-

द्रूपसे चिदानन्दरूपसे सदानन्दरूपसे सच्चिदानन्द रूपसे तथा सच्चिदानन्दकन्दरूपसे लक्ष्याऽलक्ष्यभावसे विलास करता है। मतलब यह कि अपने आपमें ही निमग्न रहता है। जब अपने आपसे भिन्न कोई वस्तु ही नहीं तो दूसरी ओर देखना आदि कहां होगा ? परन्तु यह आत्मरहस्य सद्गुरु की कृपा के विना नहीं मालूम होता। इसीलिये इसको वेदादिशास्त्रोंमें 'प्रणव' कहा है। प्रणव शब्दार्थ ही अर्थात् प्रणवतत्त्वार्थ इस कारिकामें प्रकट किया गया है। इसका रहस्य थोड़ा सा सङ्केत-से सूचित कर देते हैं। 'अनुभवसुरहस्यम्' जहां द्वैतकी शङ्का तक नहीं होती, ऐसे अद्वैतरूपी रत्नकी जो गुप्त बात है। अथवा पूर्ण अद्वैतसे ओतप्रोतभावसे भरे हुए आठकी जो गुप्त बात है। अथवा स्वाऽनुभवकी जो गुप्त बात है। तात्पर्य यह कि इस रहस्यको सिवा स्वाऽनुभव-के कोई जान नहीं सकता। इसीलिये 'मङ्गलं मङ्गलानाम्' मङ्गलोंका जो मङ्गल है। या मङ्गलोंमें जो मङ्गल है। तात्पर्य यह कि आपेक्षिक मङ्गल और अमङ्गल जहां समाप्त हो जाते हैं, वह परम मङ्गल जिसका स्वरूप है अर्थात् बुरे और भले जितने ही आपेक्षिक भाव हैं वे सम्पूर्ण ही जिसके विज्ञानमात्रसे परिपूर्ण मङ्गल हो

जाते हैं। इसीलिये जो 'मौन' है। अर्थात् सम्पूर्ण तर्क कुण्ठित हो जानेके कारण चुप हो जाते हैं। अथवा सम्पूर्ण गुह्योंका भी गुह्य होनेके कारण जो मौन-स्वरूप है। अथवा मुनियोंका अर्थात् मननशीलोंका जो प्रेमसर्वस्व है। तात्पर्य यह कि मननशील पुरुष ही इसके स्वरूपके पानेके अधिकारी हो सकते हैं। ऐसे परमेश्वरका हृदयमें आश्रय लेते हैं। अथवा जो 'अधि-हृत्' = उत्कृष्टस्थान है। तात्पर्य यह कि सृष्टि स्थिति संहार निग्रह और अनुग्रह इन पांचों कृत्यों के बीज मयूराण्डर-सन्यायसे अर्थात् पूर्ण समरसभावसे जिसमें रहते हैं, ऐसा अधिष्ठान है, और इसीलिये जो 'इपरमेश' है अर्थात् इच्छा और ईशिताशक्तियोंके पतियोंके सामरस्या-त्मक है। अर्थात् शिवविष्णुसामरस्यात्मक है। अथवा कामकला अर्थात् पूर्ण स्वभावशक्ति परम कल्याणरूप जिसमें ओतप्रोतभावसे भरी रहती है, उस ईश्वरको अहं ग्रन्थकार, अथवा 'अहम्' अर्थात् प्रकाशविमर्शपूर्णज्योतिः-सामरस्यात्मक ज्योतिर्मय और समस्तवाङ्मयरूप, इस अर्थमें यह 'परमेशम्' का विशेषण है। ऐसे 'मौनम्' गुह्यभूत, अर्थात् स्वतः सिद्ध होनेसे ही अनिर्वचनीय आत्मतत्त्वका आश्रय करते हैं, अर्थात् तद्रूप हो रहे हैं।

इस कारिकामें बीचके पांचों प्रकरणार्थोंको सङ्केतसे सूचित किया है । जैसे- 'अभिनवरमणीयम्'से सर्वानुस्यूत अद्वैतरहस्यका 'सच्चिदानन्दकन्दम्'से प्रथम प्रकरणार्थका 'स्वनवनवविलासोल्लासनैकप्रवीणम्'से द्वितीय स्वातन्त्र्यप्रकरणार्थका, 'अनुभवसुरहस्यम्'से तृतीयमहाविद्याप्रकरणार्थका 'मङ्गलं मङ्गलानाम्'से चतुर्थ नैर्मल्यप्रकरणार्थका तथा 'अधिहृदिपरमेशम्'से पञ्चम पूर्णकर्तृ-प्रकरणार्थका और 'मौनम्' से सर्वाऽनुस्यूत अद्भुत अनिर्वचनीयताका सङ्केत समझ लेना चाहिये। इस कारिकामें और भी कुछ रहस्य हैं। परन्तु गुरुपरम्परामात्रगम्य होनेसे वे नहीं लिखे गये। यह कारिका 'अ' से आरम्भ होकर 'हम्' में समाप्त हुई है, इसपर विशेष ख्याल करनेसे कुछ रहस्य खुलना प्रारम्भ हो जाएगा । अस्तु ॥१॥

पूर्वकारिकामें समस्तशास्त्ररहस्यवीज विद्यमान है । उसको मङ्गलाचरणके व्याजसे सूचित करके अव अपने गुरु इष्टदेवता आदिका स्मरण करते हैं। जिससे मालूम हो जाएगा कि यह ज्ञान या विज्ञान सद्गुरु सम्प्रदायसे तथा इष्टदेवतासम्प्रयोगसे प्राप्त

हुआ है। यह मालूम होनेसे इस ग्रन्थके पढ़नेवालों-को ग्रन्थकी इष्टजनकतामें निःसंशयता प्राप्त हो जाएगी। अस्तु। अब इष्टदेवता तथा सद्गुरुका जय-जयकार करते हैं, सुनिये—

श्रीराधारुक्मिणीकान्तमहागुरुशरीरिणी ॥
बालाऽरुणा विजयतेऽज्ञानदाऽहंसरूपिणी ॥२॥

श्रीमती राधा और रुक्मिणी इन दोनोंका जो कान्त अर्थात् श्रीकृष्ण, उस श्रीकृष्णरूपी गुरुश्रेष्ठका शरीर धारण जिसने किया है, वह यथार्थ-ज्ञानको देने वाली और अयथार्थ-ज्ञानका नाश करनेवाली हंसरूपिणी अर्थात् अजपा गायत्रीस्वरूपा इसीलिये अहंस्वरूपिणी अर्थात् पूर्णाहन्तास्वरूपिणी अर्थात् प्रकाशविमर्श-सामरस्याकारा बालसूर्यके समान अरुणवर्ण जो इष्ट-देवता बालरूपिणी, वह सर्वोत्कर्षसे विजयके योग्य है। अर्थात् इसीका सर्वत्र सर्वरूप से विजय है।

इति श्री-महामहिम-आचार्य-श्रीमदमृतवाग्भवसमुल्लासिते स्वोपज्ञ 'सुन्दरी'इत्याख्यराष्ट्रभाषाव्याख्यासमुल्लासिते आत्मविलासे समस्तशास्त्ररहस्यबीजभूतं प्रथमं मङ्गलाचरणप्रकरणम् ॥

——:O:——

॥ श्रीः ॥

द्वितीयं प्रकरणम्।



सच्चिदानन्दस्वरूपनिरूपणम्

स्वात्मानं स्वविलासेन विश्वरूपेण भासयन् ॥
नित्योदितः कोऽपि देवो जयत्यात्मा परः शिवः ॥१॥

अपने आपको अपने विलाससे विश्वरूपसे चमकानेसे सर्वदा जिसका उदय ही है। अर्थात् जिसको अनित्य उदय और अस्त ये दोनों विकार कभी नहीं होते, और सर्वदा जो अपने आनन्दके लिये दिव्यक्रीड़ा में लगा हुआ रहता है। वह, कोई अनिर्वचनीय अर्थात् किसी भी प्रमाणसे सिद्ध न होने वाला होने पर भी सर्वदा जो प्रत्यक्ष हो रहता है। वह परम कल्याण-स्वरूप अपने आप सर्वोत्कृष्ट अपरोक्ष विद्यमान है। इसीलिये उसीका सर्वत्र विजय है ॥१॥

सोऽयं विलास एवाऽस्य शक्तिरित्युदितो बुधैः ॥
शिवश्च स्वरूपाभ्यां व्यवहाराय कल्पते ॥२॥

वह, यह, इस आत्मस्वरूपका विलास ही पण्डितोंसे शक्तिनामसे पुकारा या वर्णन किया जाता है। यह विलास ही शिव और शक्तिरूप धारण कर सम्पूर्ण व्यवहार करनेके लिये समर्थ होता है। अर्थात् इस अनन्तकोटिब्रह्माण्डके जीवनसूत्रका सूत्रधार शिव-शक्तिस्वरूप विलास ही है ॥२॥

क्या आत्मा विलाससे भिन्न है ?

विलासो न स्वतो भिन्नो विलासादपि न स्वयम् ॥
तदेतत् सच्चिदानन्दमद्वैतं पारमार्थिकम् ॥३॥

विलास आत्मस्वरूपसे भिन्न नहीं, और आत्मस्वरूप विलाससे भिन्न नहीं, वह यह परमार्थवस्तुभूत अर्थात् अन्तिमसारभूत सच्चिदानन्द अद्वैत है ॥३॥

जो प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता, उसी विलासके लिये "यह" पद लाना, यह तो ठीक मालूम नहीं होता—

तैस्तैर्दार्शनिकैस्तत्तद्रूपेणाऽयं निरूप्यते ॥
अयमेव विलासोऽस्य स्फुटं सत्योऽनुभूयते ॥४॥

उन उन जगत् और उसके मूलभूत वस्तु की छान-बीन करनेवाले दार्शनिकोंने उन उन रूपोंसे इस जगत्

और जगत्के मूल का निरूपण तरह तरहसे किया है। यही तो इस आत्मस्वरूपका स्वरूपभूत विलास साफ साफ तौर पर सचाई से अनुभूत हो रहा है ॥४॥

आत्मा और आत्माका विलास ये दोनों अगर एक ही हैं, ऐसा मान लिया जाए तो व्यवहार हो नहीं सकता, क्योंकि घट और पट इत्यादि परस्पर विरोधि वस्तुएं एक हो नहीं सकतीं—

अपारमार्थिके द्वैते विरोधोऽस्ति मिथो यदि ॥
नाऽनेन हानिः काप्यस्ति स्वात्मनोऽद्वैतरूपिणः ॥५॥

कल्पित अर्थात् नहींके समान द्वैतमें यद्यपि परस्पर विरोध है, यह बात ठीक है, तो भी इस विरोध-से वस्तुतः अद्वैतस्वरूप अपने आपकी किसी भी प्रकार-की हानि नहीं है, और न हो सकती है ॥५॥

जैसे—

मिथो भिन्ना भासमाना भङ्गबुद्बुदवीचयः ॥
सागरस्य स्वरूपस्य विघाताय भवन्ति किम् ॥६॥

परस्पर भिन्न रूपसे अर्थात् विरोधि रूपसे वस्तुतः वैसे न होने पर भी वैसे दिखाई देनेवाले बुल्बुले, भङ्ग वीचि, अर्थात् छोटे बड़े सब तरहके तरङ्ग समुद्रके

स्वरूपका क्या विनाश कर सकते हैं ? अर्थात् नहीं कर सकते। तात्पर्य यह है कि ये छोटे बड़े सब तरहके तरङ्ग परस्पर भी, अलग अलग तरहसे और समुद्रसे भी, पृथक् तरहसे केवल देखनेमें तो आते हैं, फिर भी समुद्रके स्वरूपकी किसी प्रकारकी भी हानि नहीं कर सकते। कारण यह कि समुद्रसे या परस्परसे अलग वह हो ही नहीं सकते। क्योंकि इनकी परस्पर विरोधिता अर्थात् इनका यथार्थरूपसे अपना अलहदा-पन, कल्पितमात्र ही होता है, वस्तुतः नहीं है ॥६॥

> प्रत्युतैषां विरोधेन स्वसत्तैव मुहुर्मुहुः ॥
> चिद्रूपाऽऽनन्दरूपेण विश्वरूपा विलासति ॥७॥

बलके उलटा इनके अर्थात् छोटे बड़े और सबसे बड़े तरङ्गोंके परस्पर और समुद्रके विरोधसे आत्म-सत्ता ही जो कि चिद्रूप है, वह आनन्दरूपसे बार बार कल्पितस्वरूप विश्वरूप होकर विलास हो रही है। तात्पर्य यह है कि, इन तरह तरहके विश्वरूप विरोधिभावोंमे अपने आपकी सत् चित् और आनन्द रूप की सत्ता एकाकार विलासको ही प्रकट कर रही है। इस उदाहरण से यह स्वयं सहज सिद्ध हो जाता है ॥७॥

बहुतसे दार्शनिक आत्मा है ही नहीं ऐसा कहते हैं, और किसी कदर व्यवहार में यह ठीक भी हो सकता है। परन्तु, यदि यह बात अच्छी तरहसे, अर्थात् सूक्ष्म दृष्टिसे विचारी जाए तो बड़ी हंसी आवेगी। क्योंकि—

आत्मनोऽभावमिच्छन्तोऽप्यात्मसत्तां न किं स्फुटाम् ॥
अङ्गीकुर्वन्ति नो चित्रं स्वविलासोऽयमेव भोः ॥८॥

आत्मस्वरूपके अर्थात् अपने आपके अभावकी जो दार्शनिक इच्छा करते हैं, क्या साफ तौर पर वे अपना होना सिद्ध नहीं करते हैं? रह गई बात यह कि वे अपनी अप्रकटता को ज़ाहिर करेते हैं, जिसमें चाहे कोई अप्रकटता को ज़ाहिर करे या प्रकटता को, पर इन दोनों से अपने आपका होना तो स्वयं ही सिद्ध हो जाता है, इसमें भला आश्चर्य ही क्या? अजी! यही तो आत्मविज्ञान है। अर्थात् अपने आपकी अनिर्वचनीय लीला है ॥८॥

यदि यह सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करने पर सिद्ध होता हो, और उसको बुद्धिमान् लोग समझते भी हों, तो भी क्या है? सर्व साधारण तो इस बातको नहीं समझ सकते, इसलिये हम क्यों मानें कि आत्मा है?

यह बात आपकी ठीक नहीं है ? क्योंकि, यद्यपि प्रमाण तो पण्डितोंका ही कहा हुआ माना जाता है तो भी यहां तो छोटेसे लेकर सबसे बड़े पण्डित तक को जिस बातका अनुभव हरएकको हो रहा है, वह बात कैसे झूठ हो सकती है ? और 'आत्मा है' तुम्हारा ऐसा न मानना किसको भला प्रिय जंचेगा ? सुनिये—

> नाहमस्मीति मूढोऽपि नात्मनि प्रतिपद्यते ॥
> किं तु व्यापारकर्तृत्वमात्मन्येवाऽभिमन्यते ॥६॥

"मैं नहीं हूँ" इस तरह तो कोई मूर्ख भी अपने विषय में नहीं कबूल कर सकता, बल्के उलटा वह तो तरह तरहकी क्रियाओंका करनेवाला "मैं हूँ" ऐसा अभिमानके साथ लोगों को, साथ साथ अपने आप जतलाता रहता है ॥९॥

परस्पर विरोधी काम करनेवाले तो महाराज पृथक् पृथक् ही हो सकते हैं । यद्यपि समयान्तरके क्रम परस्पर विरोधी काम करते हों, परन्तु एक ही समय परस्पर विरोधी काम कोई भी कर नहीं सकता । यह बात सर्वतः सिद्ध है, तो उससे यह भी माना जाएगा कि परस्पर विरोधी धर्म इकट्ठा अर्थात्

जगह रह नहीं सकते, तो एक ही आत्माके विषयमें भावरूपसे और अभावरूपसे वर्णन करना, यह असङ्गत सा जान पड़ता है। इसलिये यह बात ठीक नहीं है, कि आत्माका अस्तित्व या नास्तित्व अर्थात् भाव या अभाव सिद्ध हो।

वाहजी वाह, यह तो पहले जो कुछ भी कहा गया है, वह आपने न सुना कर दिया, अर्थात् वह आपकी समझमें ही नहीं आया। अस्तु। फिर भी 'तुष्यतु दुर्जनः' इस न्यायसे फिर हम आपको जवाब देंगे। सुनिये—

पितृमातृसुतभ्रातृकलत्राऽरिसुहृज्जनैः ॥
संसृष्टः पुरुषः पुत्रादित्वमेकोऽपि विन्दति ॥१०॥

बाप, मां, लड़का, भाई, बहन, औरत, शत्रु और मित्र इन लोगोंके सम्बन्धमात्रसे ही एक ही पुरुष पुत्रादिकताको पाता है, ऐसा देखनेमें आताहै ॥१०॥

पुत्रादित्वादिकं सोऽयं नित्यं त्वनुभवन्नपि ॥
शरीरेणाऽपि भिन्नो न दृश्यो हि स्वात्मना कुतः ॥११॥

और पुत्रादिकताको वह, यह पुरुष सर्वदा अनुभव करता हुआ भी शरीरसे भी पृथक् नहीं देखनेमें आता,

तो फिर आत्मरूपसे किस तरह पृथक् देखनेमें आए

तात्पर्य यह है कि. एक ही पुरुष पुत्रकी दृष्टि पिता और पिताकी दृष्टिसे पुत्र होता है। परन्तु पुत्र और पितृत्व ये परस्पर विरोधी धर्म उस पुरुषको शरीर से भी पृथक् नहीं करते, और नाहीं कर सकते हैं। आत्मस्वरूपसे कैसे पृथक् करें ? ॥ ११ ॥

'यह है' अर्थात् आत्मा है, यह बात ठीक हुई। औ 'सद्रूप है' यह बात भी दिलमें तो बैठ गई, पर यह विश्वरूप क्यों होता है ? यह शङ्का होती है—

> आत्मैक एव सद्रूपः कर्तृत्वादिवशादयम् ॥
> चिद्रूपत्वं विमृशति स्वानन्दाय विलासतः ॥१२॥

एक ही सद्रूप आत्मा कर्तृत्वादि शक्तियों अभिन्न सञ्चालक अपने विलाससे अपने आनन्द लिये अपने चिद्रूपताका विमर्श करता है। अर्थात् चिद्रूप हूँ, इसी बातको इन परस्पर विरोधी कर्तृत्वा शक्तियोंसे उनका स्वरूप होता हुआ ही जतलाता है।

पहले तो आत्मा चिद्रूप है, यह सिद्ध करना चाहिये पश्चात् उसका यह विमर्श करता है, या और करता है, सिद्ध होना माना जा सकता है, या क

जा सकता है, इस बातका फैसला तभी हो सकता है। जब तक इसकी चिद्रूपता ही सिद्ध नहीं हुई, तब तक "यह चिद्रूपताका विमर्श करता है" यह कहना आकाश-का फूल सुगन्ध देता है या नहीं, इस विचारके अर्थात् प्रश्नके समान है—

यद्भासाद् दृश्यमाभाति तस्य चित्त्वं न किं स्फुटम्॥
पश्याम्यहमिदं सर्वमिति मूढोऽपि मन्यते॥१३॥

जिसके चमकसे सम्पूर्ण दृश्य चमकता है। क्या इस बातसे साफ तौर पर यह नहीं मालूम होता, कि सम्पूर्ण दृश्यको चमकाने वाला वह सद्रूप आत्मा स्वयं चिद्रूप अर्थात् स्वयं चमकता है। क्योंकि. यह सम्पूर्ण दृश्य मैं देखता हूँ, अर्थात् मेरे ही प्रकाशसे यह दृश्य प्रकाशित हो रहा है। मूर्ख पुरुष भी तो इसी प्रकार मानता है, तो फिर विद्वान भला क्यों न मानें ?॥१३॥

आत्मा यदि न चिद्रूपो जडत्वं जगतः कथम्॥
नश्यमानस्य जगतश्चिद्रूपत्वं न सिद्ध्यति॥१४॥

यदि आत्मा चिद्रूप नहीं है, ऐसा ही मान लिया जाए तो जगत् जड़ है, यह कैसे सिद्ध होगा ? जो कहो कि जगत् जड़ नहीं ही है, तो यह बात तो सम्भव नहीं,

क्योंकि कल्पित यह जगत् चिद्रूप सिद्ध हो नहीं सकता। तात्पर्य यह जो वस्तु कभी 'है' मालूम होती है और फिर 'नहीं है' ऐसी प्रतीत होती है अर्थात् जो उत्पन्न भी होती है और फिर नष्ट भी हो जाती है, उसको चित् कहा नहीं जा सकता। इस तरह जगत् चित् सिद्ध नहीं हो सकता अर्थात् जड़ होगा। परन्तु जड़ जो जगत् उसका चमकना तो अनुभूत होता है, फिर चाहे आत्म-रूप से हो, चाहे और किसीसे, परन्तु चमकता है ज़रूर, और जड़ वस्तु का चमकना चित् के ही अधीन हुआ करता है। इसीलिये सम्पूर्ण दृश्यका अभिन्नरूपसे चमकाने वाला आत्मा जड़ नहीं हो सकता, अर्थात् जड़ नहीं है, अर्थात् "चित् है" यह बात अनायास ही सिद्ध हो जाती है ॥१४॥

यह बात तो मान ली कि आत्मा चिद्रूप है अर्थात् तरह तरहसे अपने आपको चमकाता है, अर्थात् चमकता है, और वह 'है' अर्थात् वह सद्रूप है, इस बातको तो पुनः पुनः कहनेकी आवश्यकता ही नहीं मालूम होती क्योंकि चिद्रूप माननेसे ही सद्रूपता सिद्ध हो जाती है परन्तु यह चिद्रूप हुआ क्यों? अर्थात् इसका उद्देश्य

क्या है ? यह क्यों अपने आपको तरह तरहसे चमकाए और चमके ? सुनिए —

आनन्दरूपता चाऽस्य जगद्भासनहेतुना ॥
स्यानन्दार्थेव मूढोऽपि कार्यजातं करोति हि ॥ १५ ॥

सम्पूर्ण जगत्को चमकाता है इसी बातसे तो यह बात सिद्ध होती है कि, आत्मा आनन्दरूप है। कारण कि एक मूर्ख पुरुष भी अपने आनन्दकेलिए ही सम्पूर्ण कार्य किया करता है, यह बात निश्चित है। तात्पर्य यह कि, कोई भी मनुष्य जो कुछ काम करता है, उसमें उद्देश्य सर्वदा अपने आनन्दरूपताका उपभोग करना ही है, चाहे फिर वह पुरुष मूर्ख हो या विद्वान्, बूढा हो या बच्चा, स्त्री हो या पुरुष, और मनुष्य ही नहीं किन्तु पदार्थमात्र ही आनन्दको उद्देश्यमें रखकर ही कार्य करते हैं। यह बात ठीक भी है। क्योंकि अन्तिम सुखकी प्राप्ति, जोकि अपने आनन्दरूपताका अनुभव है, वही तो सार है। इसीलिये तो हमारा बारम्बार यह कहना है, कि हमारा अपना स्वरूप सर्वदा और सर्वथा सच्चिदानन्द है। तब यह शङ्का कि सम्पूर्ण जागतिक व्यापारोंका उद्देश्य क्या है ? यह वृथा ही

है ॥ १५ ॥

क्यों जी ! यह जो आनन्दरूप है, यह बात सिद्ध है, और दुःखकी प्राप्तिकी इच्छा भी कोई नहीं करता, यह भी बात ठीक है, साथ साथ यह बात भी ठीक है है, कि सभी आनन्द को चाहते हैं। परन्तु यह जो जागतिक दुःख है यह क्यों हमने पाया ?

ठीक है। शङ्का तो अच्छी है। परन्तु थोड़ी सी अपनं अनुभव-दृष्टिकी आवश्यकता है। उस अनुभव दृष्टिसे इस बात का ज़रा भी विचार किया जाए, तो यह शङ्का निर्मूल हो जाती है। वह अनुभव-दृष्टि यह है सुनिये—

> आनन्द एव पर्यन्तः साऽपेक्षसुखदुःखयोः ॥
> स्वानुभूत्या विमृशतां निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ १६ ॥

सापेक्ष सुखदुःखोंकी, अर्थात् सुख हो तब ही दुःख हो सकता है, और दुःख हो तब ही तो सुख होता है तात्पर्य यह है कि, सुखदुःखरूपी यह जोड़ा कभी भी अलग नहीं रह सकता। क्योंकि हर एक कार्य दोनों के सांझीसे ही हुआ करता है। इसीलिए इन दोनों

विद्यमान और इन दोनोंका अधिष्ठान जो आत्मा वह आनन्द है। क्योंकि इन दोनोंकी अन्तिम समाप्ति आनन्दमें ही होती है। अर्थात् सुख और दुःख इन दोनोंका कारण भी और फल भी अर्थात् उद्देश्य एक ही है, और वह आनन्द है। तब ये दोनों आपेक्षिक सुखदुःख अपने उद्देश्य-स्वरूप जो कि कारण-स्वरूप आत्मानन्द हैं, वही इनका स्वरूप है। यह बात अपने अनुभवसे विचार करनेवाले अर्थात् श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पुरुषोंने अच्छी तरहसे निश्चित की है। और इसीलिये यह मत सर्वोत्तम है। ऐसा सिद्ध हो जाता है ॥१६॥

इसीलिये और तरहसे भी आपको हम सुनाते हैं, सुनिये—

> निजानुभूतदुःखादिवार्त्ताविवरणे स्फुटम् ॥
> मन्दोऽपि कश्चिदानन्दं विन्दते इति विश्रुतम् ॥१७॥

अपने अनुभूत दुःखादिकी बातोंके वर्णन करते समय एक मूढ पुरुष भी किसी अर्थात् अवर्णनीय आनन्दको पाता है। यह बात बहुत ही साफ-साफ प्रसिद्ध है। तात्पर्य यह कि दुःख अनुभव करते समय भी किसी खास आनन्दका एक मूर्खभी अनुभव करता है,

ऐसा देखा जाता है। तभी तो किसीके मरजाने पर ज़ोरसे रोनेवालोंको शीघ्र अर्थात् जल्दी शान्ति अर्थात् आनन्द मिल जाता है। अन्यथा दूसरे लोगोंको देरसे शान्ति होती है। इसी वास्ते अपने दुःखको प्रकट ना करनेवालोंके हृदय सुखी नहीं होते, यह बात तो सभी जानते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि आपेक्षिक सुख और दुःख इन दोनोंका निदान अर्थात् आदिकारण और उदर्क अर्थात् उद्देश्य. फल या परिणाम, कुछभी कह लीजिये है वह एकही। और "क्या है" अगर यह पूछा जाए तो उसका उत्तर है "आनन्द" और वह आनन्द आत्मा है। अर्थात् सुखदुःखादि जितने भी पदार्थ हैं वे सब आत्मानन्द ही हैं ॥१७॥

अच्छा, यदि यह सम्पूर्ण विश्व आत्मरूपसे उत्पन्न हुआ, जीवित रहा, और उसीमें फिर लीन भी होता है। और साथ साथ आप यह भी कहते हैं, कि यह सम्पूर्ण विश्व आत्मरूप ही है। और वह आत्मरूप सच्चिदानन्द स्वरूप है। तो फिर इस जगत्को जड़ अर्थात् असच्चिदानन्द न कह कर सच्चिदानन्द ही क्यों ना कहा

जाए ? हांजी ! यह तो ठीक ही है । हमें तो इसमें कोई आपत्ति ही नहीं, इतना ही नहीं, किन्तु सारे ग्रन्थमें यही तो हमने प्रतिपादन करना है । सुनिये—

> सच्चिदानन्दरूपत्वं स्वात्मभास्यतया यदि ॥
> इष्यते दृश्यजातस्य कल्पसाहस्रमस्तु तत् ॥ १८ ॥

यदि अपने आत्मस्वरूपसे प्रकाशित होनेके कारण सम्पूर्ण दृश्यसमुदाय को सच्चिदानन्दरूपत्व अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूप है, ऐसा चाहते हैं, तो वह सम्पूर्ण दृश्यसमूह हज़ारों कल्प पर्यन्त ऐसा रहे । तात्पर्य यह कि, यह तो हमको इष्ट ही है । क्योंकि वस्तुतः ऐसा ही है ॥१८॥

यह आत्मस्वरूप जब एक ही है, तदतिरिक्त जब दूसरी कोई वस्तु ही नहीं, तब सत् और चित् आदि विशेषण किस तरह लगेंगे ? और कौन लगाएगा ? तो फिर भी जब ये लगाए जाते हैं, तो इससे यह मालूम होता है, कि आत्मस्वरूप अवर्णनीय है, ऐसा नहीं क़िन्तु वर्णनीय है । और जब यह वर्णनीय है, तब इसका अभिन्न-स्वरूप ही काल्पनिक है, ऐसा ही क्यों ना कहा जाए?

ठीक है। ऊपर ऊपर देखनेसे यह बात ठीक ही जंचती है, परन्तु हमारे कहनेका मर्म तुम्हारी समझमें नहीं आया। यद्यपि हमने कई तरहसे इसका मर्म कहा भी। अस्तु। फिर भी एकवार हम समझा देते हैं। सुनिए-

प्रकारताभेदवशाद्ध भिद्यते हि विशेष्यता॥
निर्विशेषं निष्प्रकारं कथं वाचा निरूप्यताम्॥ १६॥

प्रकारताके भेदसे विशेष्यतामें भेद हुआ करता है। ऐसा नियम है। परन्तु जहां विशेष्यता भी नहीं और प्रकारता भी नहीं अर्थात् एक आत्मस्वरूप ही है, तब ऐसे आत्मस्वरूपका "ऐसा" और "वैसा" इन दोनों वातोंसे कहना वाणीसे कैसे हो सकता है?

तात्पर्य यह कि, सच्चिदानन्द आत्मस्वरूपके जगद्रूपसे विकसित होने पर, अथवा आभासित होने पर, अर्थात् आत्मरूपसे सङ्कुचित होने पर, या अभासित होने पर, ये प्रकारता और विशेष्यताएं चमकती हैं। इसी तरह ठीक इनके उलटा होने पर, अर्थात् जगद्रूपसे अविकसित होने पर या अभासित होने पर, अर्थात् आत्मस्वरूपसे विकसित होने पर, या भासित होने पर, ये सव विशेष्यताएं और प्रकारताएं वाणीके वर्णनसे वाहर हो जाती हैं। क्योंकि आत्म-

स्वरूपका प्रकाशित होना, अर्थात् समस्त कल्पितका आत्मस्वरूपसे समरस या अद्वितीय हो जाना है। ऐसी हालतमें वाणीसे वर्णन करना कैसे सम्भव है? ॥१९॥

क्योंजी! जब प्रकारताके भेदमे विशेष्यतामें भेद होता है, यह नियम है, तो यहां भी अनेक प्रकारताएँ आत्मस्वरूपसे ही तो विकसित होती हैं। तब यहां भेद क्यों न हो? भाई! अगर तुम यह कहो, कि विशेष्यताएँ और प्रकारताएं आत्मस्वरूपसे विकसित होती ही नहीं, क्योंकि वहां ये दोनों हैं ही नहीं, लेकिन यह कहना तो तुम्हारा असङ्गत ही होगा। कारण वहां अगर हैं ही नहीं, तो फिर ये देखनेमें क्यों आती हैं, और सम्पूर्ण विश्वका उपपादन किस तरह होगा, यदि यह कहो कि यह भ्रममात्र ही है। तो यहां यह शङ्का होती है, कि भ्रम कहते किसको हैं? दूसरी जगह देखी हुई वस्तुको उसके विपरीत जगह देखना या किसी वस्तुको उलटी तौरसे देखना इसीका नाम तो भ्रम है! फिर हम यह पूछते हैं कि यह भ्रम होता किसको है, तो यहां यह बात तो सभीको निश्चित माननी पड़ती है, कि भ्रम जीवको अर्थात् सङ्कुचितज्ञानवानको ही होता है। तब हम यह पूछेंगे कि यह भ्रम जीवको किस जगह

होता है, अर्थात् इस जगत्का जो भ्रम हुआ, तो य
जगत् पहले कहां देखा था, कि जिसका इसको भ्र
हुआ, विना देखे तो भ्रम हो सकता नहीं। यदि य
कहो कि आत्मस्वरूपमें ही देखा, तो यह मानना पड़ेगा
कि जगत् इसमें पहले था ही। परन्तु ऐसा मानने
आत्मस्वरूपमें द्वैतापत्ति आएगी। इस वास्ते हम तो य
कहते हैं, कि भ्रम-वम तो कुछ नहीं, किन्तु यह अद्वै
आत्मस्वरूप ही उन उन कल्पनाओंसे अपने आप
अपने आनन्दकेलिये उल्लासित करता है। इस वास्
फिर अद्वैत किस तरह सिद्ध हो, तो सुनिये अद्वैत इ
तरह सिद्ध होगा—

मूढानां विदुषां चैव केवलं ग्रहणे भिदा ॥
आत्मा तु भिद्यते नैव ततोऽद्वैतं प्रसिद्ध्यति ॥ २० ॥

मूर्ख और विद्वान् लोगोंके ज्ञान अर्थात् समझमें
सिर्फ भेद है। वस्तुतः आत्मामें भेद नहीं हो सक
अतः अद्वैत सिद्ध होता है। तात्पर्य यह कि, समझ
उलट फेर से ही भेद हुआ करता है। इसीलिये
उनको विद्वान् और मूर्ख ठहराया जाता है। पर
समझके उलट फेर होने पर भी वस्तुमें तो उलट

हो नहीं सकता। अतः एक आत्मामें भेद नहीं आ सकता। और दूसरी बात यह भी है, कि मूर्ख और विद्वान् इन दोनोंका साक्षी एक ही मानना पड़ेगा। यदि दो मानेंगे तो परस्पर स्वतः प्रकाश और परतः प्रकाश दोमेंसे किसी एकको ही मानना पड़ेगा। उसमें भी जो परतः प्रकाश है, वह तो स्वतः प्रकाशसे ही समरस हो जाएगा। तो फिर भी शेष अर्थात् अवशिष्ट एक ही रहेगा। हां, उसको कोई 'है' या 'नहीं' है कह नहीं सकता। क्योंकि उसके अतिरिक्त दूसरा कोई रह नहीं सकता। इसी वास्ते 'अद्वैत' ही सभी तरह से सिद्ध हो जाता है। अर्थात् इस प्रकारका ज्ञान कि आत्मा एक ही है, और वह सम्पूर्ण कल्पनाओंका समरस अद्वितीय भण्डार है, यही साधन है। अन्तमें वह साधन भी साध्यमें एकरस हो जाता है फिर आत्मस्वरूप पूर्ण सत् होनेपर भी प्रकारता और विशेष्यताओं की शङ्का ही नहीं होती, कारण शङ्काका कारण संशय है। और संशयका मूल परस्पर-विरोधी दो ज्ञानोंमें है। और उन परस्पर-विरोधी दो ज्ञानोंका आश्रयस्थान-सङ्कुचित-ज्ञानवान् जीव है। जब उस

जीवकी वहां कोई जीवरूपसे हस्ती ही नहीं रहती, तो
शङ्का कैसे हो ? ॥२०॥

तो फिर वह आत्मस्वरूप कैसा है ? दूसरी बात यह
कि जब वहां शङ्का ही नहीं हो सकती, अतः उत्तरकी
भी कोई जरूरत नहीं, तब तत्वदर्शियोंने इस आत्म
स्वरूपको सच्चिदानन्द क्यों कहा ? सुनिये—

मूढं प्रत्युपदेशाय स्वात्माऽयं तत्वदर्शिभिः ॥
सच्चिदानन्दरूपेण भण्यते न तु वस्तुतः ॥ २१ ॥

मूर्खको समझानेकेलिये ही अर्थात् स्वकल्पित अज्ञान
को मिटानेकेलिये ही आत्मवित् पुरुष सर्वतः सिद्ध अपने
आपको सच्चिदानन्दरूपसे कहा करते हैं, वस्तुतःनहीं ॥२

जब वास्तवमें ऐसा है नहीं तो फिर है क्या ?

वास्तवं तत्वमेकं तु स्वानुभूत्यैव गम्यते ॥
अनुभूतिर्हि मूकाऽस्ति ततोऽद्वैतं तदुच्यते ॥ २२ ॥

वास्तवमें एक अद्वितीय जो तत्त्व है, वह तो अपने
आपके ही अनुभवसे जाना जा सकता है । और अनु
भूति तो निश्चयसे गूंगी है । इसलिये हम ऐसा कह

हैं, कि कुछ अद्वैत है । अन्यथा अद्वैत यह कहना भी नहीं बनता ॥२२॥

सच्चिदानन्दस्वरूपं सच्चिदानन्दभासितम् ॥
विश्वोत्तीर्णं विश्वमयमद्वैतं स्वविलासतः ॥ २३ ॥

सच्चिदानन्द-स्वरूप परमात्मासे भासित अत एव सच्चिदानन्द-स्वरूप विश्वरूप और उससे अतीत अर्थात् उसका कन्दभूत अर्थात् आदिकारण-स्वरूप यह अपने विलाससे ही अद्वैत है । तात्पर्य यह कि, सम्पूर्ण विश्व आत्मस्वरूप है । और आत्मस्वरूप विश्वस्वरूप है अर्थात् अपने विलाससे यह अद्वैत स्वयं सिद्ध है ॥२३॥

और और दार्शनिक लोग इसको उन उन नाम-रूपोंसे वर्णित करते हैं, तो आपके मतमें उन नामोंसे वर्णन न करनेके कारण कोई विरोध तो नहीं है ? नहीं, सुनिए—

आत्मा ब्रह्म परः शिवोऽथ परमा सँविन्त् स्वभावोऽथ वा
सोमो वा पुरुषोऽपि वाऽथ भगवान् कर्त्ताऽथ कर्माऽपि वा ॥
बुद्धो वाऽथ जिनोऽपि वा गुरुरथो हानिर्न काप्यत्र मे
तत्तद्दर्शनसिद्धभूरभिमताऽऽनन्दात्मिका पातु माम् ॥ २४ ॥

कोई लोग उसी सिद्ध वस्तुको आत्मा कहते हैं ।

इसी वास्ते उन विद्वानोंको आत्मवादी कहते हैं । को
लोग ब्रह्म कहते हैं । उन लोगों को ब्रह्मवादी
औपनिषद वेदान्ती कहते हैं । कोई उसको परशिव क
हैं । इसीलिये उनको शैव कहते हैं । और कोई उस
परासंवित् अर्थात् शक्ति कहते हैं । उनको शाक्त क
हैं । कोई उसको स्वभाव कहते हैं । उन लोगों
स्वभाववादी कहते हैं । कोई उसको सोम कहते हैं, अर्था
शक्तिविशिष्ट शिव कहते हैं । उनको पाशुपत कहते हैं ।
शक्तिविशिष्ट विष्णु ऐसा कहते हैं, वे विशिष्टाऽद्वैतवा
वैष्णव कहे जाते हैं । कोई उसको पुरुष कहते है
तारतम्यभेदसे वे साङ्ख्य और योगी कहे जाते हैं
हां, भक्त लोग उसको भगवान् कहते हैं । गौतम औ
कणादमताऽनुयायी उसको कर्ता कहते हैं । मीम
सक लोग अर्थात् जैमनिमताऽनुयायी उसको कर्म क
हैं । बौद्ध लोग उसको बुद्ध कहते हैं । इसी तरह जै
लोग जिन कहते हैं । और दूसरे अपने आपको शि
समझते हुए उस आत्मस्वरूपको प्रायः सारे ही ता
तम्यभावसे गुरु कहते हैं ! हां, परन्तु इसमें हमारी कि
तरहकी भी हानि नहीं, बल्कि हम तो उसको सम

दर्शनोंकी अन्तिम-भूमि आनन्दस्वरूपिणी समझ कर उस आत्मदेवको प्रार्थना करते हैं, कि वह प्रभु किसी रूपसे हो और किसी नामसे हो, क्योंकि वह सारे नाम और सारे रूप तथा इनके प्रवृत्तिके निमित्त सम्पूर्ण गुण और सम्पूर्ण क्रियाओंका एकरस निदानभूत है। वह परिपूर्ण परशिव हमारा रक्षण करे, अर्थात् हमें आत्मस्वरूप ही रक्खे ॥२४॥

सच्चिदानन्दरूपेण सच्चिदानन्दरूपिणः ॥
सच्चिदानन्दस्वरूपं स्वानन्दाय निरूपितम् ॥ २५ ॥

सच्चिदानन्दस्वरूपने सच्चिदानन्दस्वरूपका सच्चिदानन्दस्वरूप अपने आनन्दकेलिए निरूपित किया ॥२५॥

इति श्री-महामहिम-आचार्य-श्रीमदमृतवाग्भवसमुल्लासिते स्वोपज्ञ 'सुन्दरी' इत्याख्यराष्ट्रभाषाव्याख्यासमुल्लासिते आत्मविलासे सच्चिदानन्दस्वरूपनिरूपणं नाम द्वितीयं प्रकरणम् ।

॥ श्रीः ॥

तृतीयं प्रकरणम् ।



स्वातन्त्र्यनिरूपणम् ।

उक्त प्रकरणमें अद्वैतनिरूपण हो चुका। उस प्रसङ्गमें यह बात भी कह दी है, कि अद्वैत होने पर उसको सच्चिदानन्द क्यों कहते हैं। तथा इसका का भी कह दिया कि वह विलासस्वरूप है। अब शङ्का होती है, कि वह विलासस्वरूप आत्मा, स्वतन्त्र है परतन्त्र है? यद्यपि यह बात सरसरी तौर पर अ तरहसे कह दी गई है, कि वह स्वतन्त्र है, तो यह करना वृथा ही है, कि वह स्वतन्त्र है या परतन्त्र परन्तु उसका स्वातन्त्र्य क्या है? और उस स्वत पानेकेलिए कोई उपाय भी है? इस बातको लक्ष्य अगला प्रकरण प्रारम्भ करते हैं—

स्वतन्त्रः सच्चिदानन्दः स्वात्मारामो महेश्वरः ॥
परमोऽहम्महोरूपी स्वविलासो जयत्यसौ ॥१॥

स्वतन्त्र अर्थात् कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ, तात्पर्य, करे, ना करे, उलटा करे, सीधा करे, सब तरहसे जो शक्तिमान् है, अर्थात् सम्पूर्ण शक्तियोंका अद्वितीय समरस भाण्डार है, तथा इसीलिये जो सच्चिदानन्द कहलाता है, फिर भी अपने आपमें ही जो रहता है, क्रीड़ा करता है और चमकता है। इसी वास्ते जिसको महेश्वर अर्थात् सम्पूर्ण-ऐश्वर्य-सम्पन्न कहते हैं। वह यह अहम्महोरूपी परशिव अर्थात् अनन्त-कोटि-ब्रह्माण्डोंके कारणभूत भैरवी-भैरव-स्वरूप, अर्थात् विमर्श प्रकाश या निग्रहानुग्रह आदि आदि शब्दोंसे वर्ण्यमान शक्ति-शिव-स्वरूपका एक अद्वितीय समरस परम कल्याणस्वरूप चतुर्विध-वाचामगोचर अत एव अनिर्वचनीय और अचिन्त्य आत्मविलास-स्वरूप सर्वतः समुत्कृष्ट विद्यमान है। तात्पर्य यह, कि जो कुछ है वह वही है, इसी वास्ते हम उस अपने आप आत्मस्वरूपका जय-जयकार करते हैं। तब इस प्रकरणका यह मङ्गलाचरण और रहस्य-बीज है, यह बात इस कारिकासे स्वयं ही सिद्ध हो जाती है ॥१॥

वह स्वातन्त्र्य क्यों चाहिये ? अर्थात् इसका उद्देश

क्या है ? और साथ साथ इसके चाहनेका कारण भी क्या है ? यह प्रश्न होता है। इसका उत्तर भी सुनिये—

दुःखमूलं पारतन्त्र्यं सुखमूलं स्वतन्त्रता ॥
अतः सर्वात्मना सर्वैस्तस्याः प्राप्त्यै प्रयत्यताम ॥२॥

दुःखका मूल परतन्त्रता है, और इसी तरहसे सुख का मूल स्वतन्त्रता है। इसलिये हरएक-प्रयत्नसे उस स्वतन्त्रताकी प्राप्तिकेलिये सब लोगोंको प्रयत्न करना चाहिये। तात्पर्य यह कि मूर्खसे भी मूर्ख और विद्वान्से भी विद्वान्का उद्देश्य "सुख" ही रहेगा। और यह ठीक भी है। क्योंकि सुखके विना शान्ति कहां ? इस वास्ते हरएकका यह स्वभाव ही है, कि उस सुखको प्राप्त करे। परन्तु सुखका साधन अगर मालूम न हो तो सुख कैसे मिलेगा ? अतः उस सुखका मूल क्या है ? इसके बारेमें यह कहा गया है, कि उसका मूल स्वतन्त्रता है। और इसी प्रसङ्गसे यह भी कह दिया जाता है, कि छोड़नेकेलिये सर्वदा और सर्वथा योग्य जो दुःख है, उसका मूल परतन्त्रता है। कारणके हाथ लग जानेसे कार्य अनायास ही हाथ लग जाता है

इसीलिये यह कहा गया कि उस स्वतन्त्रताके प्राप्तिके-लिये सब तरहसे प्रयत्न करने चाहियें। क्योंकि स्वतन्त्रता कारण है, और सुख कार्य है। स्वतन्त्रताके हाथ आनेसे ही सुख स्वयं उपस्थित हो जाएगा ॥२॥

स्वतन्त्रता परतन्त्रताकी सापेक्ष है। इसीलिये कोई किसी बातमें स्वतन्त्र है, तो किसीमें परतन्त्र। इस दृष्टि-से तो सभी स्वतन्त्र हैं, और सभी परतन्त्र। और स्वतन्त्रता और परतन्त्रता ये परस्पर दोनों विरोधी धर्म एक जगह तो पहले रह नहीं सकते। अगर इनका एकत्र रहना मान लिया जाए तो उस धर्मको परतन्त्र कहना या स्वतन्त्र कहना, इस बातका निर्णय हो नहीं सकता। या तो यह कहें, कि वे दोनों हैं, तो यह बनता नहीं, और दोनों नहीं हैं, ऐसा कहें, तो 'क्या है' ? यह फिर प्रश्न वैसा ही रह जाता है। इसलिये ऐसा भी कहना बनता नहीं, और स्वतन्त्रताके विना सुख तो मिलता नहीं, और आवश्यकता तो हरएकको सुखकी ही है। अतः इस बातका निर्णय करना पड़ेगा, कि वस्तुतः स्वतन्त्र कौन है ? सुनिये—

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं यद्विलासवशाऽनुगम् ॥
स्वप्रकाशः स भगवान् स्वतन्त्रः परमार्थतः ॥३॥

ब्रह्मासे ले कर एक छोटेसे छोटे कीड़े मको
या तिनके तक जिसके विलासके अधीन हो कर पी
पीछे रहता है, या चमकता है, अर्थात् प्रकाश-स्वरू
है। स्वयं प्रकाशरूप वह भगवान् अर्थात् षड्विधैश्व
सम्पन्न वह आत्मविलास-स्वरूप अर्थात् परमात्म
वस्तुतः स्वतन्त्र है। तात्पर्य यह, कि पूर्ण स्वतन्त्रता
बगैर पूर्ण सुख मिल नहीं सकता। जब त
आपेक्षिक स्वतन्त्रता रहेगी, तब तक आपेक्षि
परतन्त्रता भी रहेगी, और परतन्त्रता चाहे वह फि
थोड़ी हो या बहुत, जितनी रहेगी उतना ही दुःख भ
अवश्य देगी। जैसे कि अगर ब्रह्माजीके पास जाक
उनको पूछा जाए कि आप दुःखी हो या सुखी, तो व
भी यह जवाब देंगे, कि भाई! कुछ तो सुखी हूं, परन्
कुछ दुःखी भी हूँ। क्योंकि विष्णुके अधीन मुझे रहन
पड़ता है। इसलिये मैं तो यही चाहता हूँ कि पूर
स्वतन्त्र बन जाऊं। तात्पर्य यह है, कि सर्वदा पूर
स्वतन्त्रताकी ही प्राप्तिकेलिये प्रयत्न करना चाहिये, अर्था

पूर्ण स्वतन्त्र बनना चाहिये और वह तो अर्थात् पूर्ण स्वतन्त्र तो बस एक ही भगवान् हैं ॥३॥

इस विवरणसे अथवा निरूपणसे यह मालूम होता है, कि जीव परतन्त्र ही है, और वह दुःखी है। तो यह जीव क्यों हुआ? दुःख तो कोई चाहता नहीं, और जीव कहना किसको? और वह कब से हुआ? सुनिए—

ब्रह्मादिस्थावरान्तं हि जीवतामश्नुते चिरात् ॥
परतन्त्रत्वभजनं जीवताप्राप्तिकारणम् ॥४॥

ब्रह्मासे ले कर स्थावर पर्यन्त अर्थात् व्यावहारिक दृष्टिसे बड़ेसे बड़े चैतन्यसे लेकर छोटेसे छोटे जड़ पर्यन्त वस्तुएं जीव कहलाती हैं, और यह जीवता बहुत कालसे भुक्ती जा रही है। यह निश्चित है, और जीवता की प्राप्तिका कारण परतन्त्रताकी भक्ति करना है। अर्थात् अपने आपको परतन्त्र समझनेसे अर्थात् सर्वदा "मैं परतन्त्र हूं" इस तरह दृढ़ अनुसन्धान करनेसे जीव-दशा प्राप्त की जाती है। सारांश यह कि एक परमात्मा-को छोड़ कर उसकी कल्पित वस्तु-मात्र जीव है। और बहुत ही पुराने समयसे है। और इसका कारण परमात्माका अपने आपको परतन्त्र समझना, अर्थात्

अपने आपमें परतन्त्रताकी कल्पना करनेमात्रमें है ॥ ४ ॥

अब प्रश्न यह है, कि जब जीव परतन्त्र है, तो शिव भी आपेक्षिक होनेके कारण उसको क्या कहना होगा! सुनिए—

> स्वतन्त्रतैव शिवता जीवता परतन्त्रता ॥
> शिवः पशुपतिः प्रोक्तो जीवः पशुरितीर्यते ॥५॥

स्वतन्त्रताका ही नाम शिवता है। और परतन्त्रता का नाम जीवता है। इसीलिये शिवको पशुपति कहते हैं। और जीव को पशु कहते हैं ॥५॥

> दण्डप्रहारः पशुभिः सह्यते हि निरन्तरम् ॥
> पारतन्त्र्यादेव ततो हेया हि परतन्त्रता ॥६॥

इसीलिये पशु सर्वदा दण्ड-प्रहार सहन करते हैं। सहन करते क्या हैं, उनको सहन करना पड़ता है। कारण, वह परतन्त्र हैं। परतन्त्रतासे ही दण्ड भोगना पड़ता है। तस्मात्, अगर छोड़ने लायक़ अर्थात् मिटाने लायक़ कोई वस्तु या बात है, तो वह परतन्त्रता है। सारांश यह कि, विश्वमें हम यह देखते हैं. कि हमारी

इच्छा न होने पर भी दुःख-आपत्तिरूप दण्ड भोगने पड़ते हैं। इसका कारण क्या है? अगर गूढ़ सार निकाला जाए, तो हमारी परतन्त्रता ही सिद्ध होगी। अर्थात् परतन्त्रता ही पशुत्व है। और उन पशुओंके ऊपर अपनी शक्ति चलाने वाला वह स्वतन्त्र है, इस वास्ते वह शिव है। इसीलिये अपेक्षाकृत सम्पूर्ण विश्वमें पशुत्व और पतित्व अर्थात् जीवत्व और शिवत्व अर्थात् परतन्त्रत्व और स्वतन्त्रत्व भरा हुआ है। कोई किसी दृष्टिसे जीव है, तो कोई किसी दृष्टिसे शिव है। परन्तु पूर्ण सुखी अर्थात् पूर्ण स्वतन्त्र, अथवा यों कहिये कि पूर्ण शिव अर्थात् परशिव परमात्मा ही पूर्ण स्वतन्त्र है, और वैसा होनेकेलिये अर्थात् परशिव होनेकेलिये, अपने आप ही कल्पित किये हुए आपेक्षिक स्वतन्त्रता और परतन्त्रता इन दोनोंको छोड़ देना चाहिये, अर्थात् अपने आपमें गला देना चाहिये ॥६॥

सुखाप्तिवाञ्छा हृदये वर्त्तते यदि यत्यताम् ॥
स्वतन्त्रताप्राप्त्यै सैव [illegible] ॥७॥

यदि आपके हृदयमें सुखके पानेकी इच्छा है, तो पूर्ण स्वतन्त्रताके प्राप्तिकेलिये यत्न करिये। क्योंकि वही अर्थात् पूर्ण स्वतन्त्रता ही पूर्णसुखकी देने वाली है ॥७॥

हां, परन्तु पूर्व कारिकासे यह तो नहीं मालूम हुआ कि शिवता झूठी है, या सच्ची उसके स्वतन्त्रताका निरूपण करनेसे तो यही मालूम हुआ कि शिवता ही स्वतन्त्रता है। और अर्थात् उसे प्राप्त करना चाहिये, यह तो बे-रोक-टोक कहा जा सकता है। परन्तु यहां प्रश्न यह होता है, कि जीवका सापेक्ष शिव तो पूर्ण स्वतन्त्र नहीं, अर्थात् वह भी परतन्त्र है, तब तो शिवता प्राप्त करना भी परतन्त्रता ही प्राप्त करना है। हां, ठीक है, यह बात सुनिये—

> जीवता शिवता चैव सापेक्षा स्वविलासतः ॥
> अपारमार्थिकी नूनं कल्प्यते स्वात्मनैव हि ॥८॥

जीवता और शिवता भी निश्चयसे सापेक्ष ही है। और यह निश्चयसे झूठी भी है, क्योंकि यह कल्पित है। अपने आप आत्मविलास-स्वरूप ही ऐसी कल्पना करता है। तात्पर्य यह, कि दोनों सापेक्ष-भाव कल्पित हैं, और

अतएव असत्य भी हैं, और इनका मूल आत्मविलास-स्वरूप अपने आप परमात्मा हीं है ॥८॥

तो फिर हम, जो कि अपने आपको जीव या शिव समझते हैं, वह क्या है ? कारण, बगैर अपने आपका पूर्ण-रूपसे निर्णय हुए अर्थात् हम किस कोटिके हैं, इस बातका विना पूर्ण निश्चय हुए, किसी वस्तुके प्राप्ति-केलिये प्रयत्न करना नहीं बन सकता । क्योंकि हम सोचने पर अनुभव करते हैं, कि हम शिव भी हैं, और जीव भी, और दोनों भी नहीं हैं । परन्तु इतने सोचने-मात्रसे या इतनी बातको महसूस करनेसे सुख अथवा शान्ति नहीं मिलती । अतः कहना न पड़ेगा, कि इस बातके निर्णयकी कितनी आवश्यकता है । अच्छा, इसका निर्णय भी सुनिये—

> अवस्थाद्वितयाऽतीतं परिपूर्णं किमप्यहो ॥
> सच्चिदानन्दस्वरूपमहन्तत्त्वं तदस्म्यहम् ॥६॥

दोनों अवस्थाओंसे अर्थात् जीव-दशा और शिव-दशा इन दोनोंसे अतीत अर्थात् अगोचर और परिपूर्ण

अर्थात् सब तरह और सब तरफसे भरा हुआ अर्थ
जीव और शिव इन दोनों सापेक्ष भावोंमें ओत-प्रो
भरा हुआ, इसी वास्ते अनिर्वचनीय कोई आश्चर्य
सच्चिदानन्दस्वरूप "अहन्तत्त्व" अर्थात् प्रकाश-विम
सामरस्यात्मक वस्तु, वहहम हैं जी !। तात्पर्य यह
मैं परिपूर्ण परमात्मा हूँ, क्योंकि मैं प्रकाशित होता
और प्रकाश मेरा स्वभाव ही है, अर्थात् जीवता औ
शिवता दोनों हमारी अपने आपके आनन्दकेलिये
हुई कल्पनाएं हैं। इसीलिये हम उन कल्पनाओंके अन्द
और बाहर और तद्रूप होकर रहते हैं। इसीलि
हमारा स्वरूप सच्चिदानन्द कहा जाता है, और लो
बड़े ही आश्चर्य करते हैं। वस्तुतः आश्चर्य भी हम
अलग रह कर जी नहीं सकता। इसलिये किसी
दृष्टिसे देखो, व्यावहारिक-दृष्टिसे देखो या पारमार्थिक-दृ
से देखो हम अनिर्वचनीय ही विद्यमान हैं ॥९॥

पूर्व कारिकाओंमें वर्णित आपेक्षिक स्वातन्त्र्य क
पाया जाता है ? और इसका कारण क्या है ? यह श
फिर भी कुछ थोड़ी अवशिष्ट रह ही जाती है। अ

इसका भी उत्तर सुन लीजिये। सावधान होकर सुनिये--

सापेक्षतत्तत्स्वातन्त्र्यमीहमानः स्वयं प्रभुः॥
सापेक्षमेव लभते स्वातन्त्र्यं स्वविलासतः॥१०॥

अपेक्षाकृत उस उस स्वतन्त्रताकी इच्छा करने वाला स्वयं प्रभु अर्थात् कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ अपने विलाससे अपेक्षा-कृत ही स्वतन्त्रताको पाता है। तात्पर्य यह, कि स्वयं सर्वतः समर्थ होनेसे अपने विलाससे ही जैसा चाहे वैसा ही बन जाता है। और जो चाहे सो प्राप्त कर लेता है॥१०॥

परन्तु क्या इसमें अर्थात् आपेक्षिक स्वतन्त्रतामें दुःख नहीं होता? इसको दुःख तो मानना ही पड़ेगा। क्योंकि पूर्ण-स्वतन्त्रताके बगैर पूर्ण सुख कहां? साथ साथ यह बात भी है, कि आपेक्षिक स्वतन्त्रतामें जन्म मरण आदि आदि दुःखोंकी प्राप्ति भी होगी ही। क्योंकि आपेक्षिक स्वतन्त्र जीव हुआ करता है। और वह जीव चाहे ब्रह्मा हो, चाहे कीड़ी मकौड़ी, पर फिर भी परतन्त्रता-मूलक दण्ड-प्रहार तो उसे सहना ही

पड़ेगा। तो यह दुःख किस तरह दूर हो ? सुनिये इस
भी उत्तर सुनिये—

कल्पिते जन्मनिधने कल्पितां जीवतां तथा ॥
स्वात्मविज्ञानमात्रेण विलाप्य सुखमश्नुताम् ॥११॥

देखो जन्म और मरण ये तो दोनों कल्पित हैं
क्योंकि जीव-दशा भी कल्पित है। इसीलिए जन्म म
और जीव-दशा इन सभीको अर्थात् जो जो कल्पित
उस सबको अपने आपके अनुभवसे ही अर्थात् आ
स्वरूपाऽनुभवसे ही गला कर सुख भोगो ॥११॥

आत्मिक-विज्ञान-मात्रसे गला कर ऐसा क्यों क
ऐसा ही क्यों न कहा ? कि जीवताको छोड़ दो
शिवताको ले लो। या ऐसा ही कहते कि जीवता
शिवता इन दोनोंको छोड़ दो और आत्मस्वरूपको ले
हां, पर ऐसा हो नहीं सकता। कारण सुनिये—

वस्तुद्वयं यत्र तत्र हानोपादानवर्णना ॥
हानं वा समुपादानं स्वात्ममात्रे कथं भवेत् ॥१२॥

जहां पर दो वस्तुएं होती हैं, वहां पर छोड़ना
लेना इन बातोंका कहना या सुनना या वर्णन क

यह हो सकता है । परन्तु छोड़ना या लेना ये दोनों बातें एक-मात्र वस्तुमें अर्थात् आत्माऽतिरिक्त किसी भी वस्तुके न रहनेसे ही अर्थात् सिर्फ आत्मामें ही कैसे होगा ? तात्पर्य यह, कि सिर्फ़ आत्मामें ही छोड़ना और लेना, ये दो बातें कैसे हो सकती हैं ? अर्थात् इनका सम्भव नहीं । कारण यह, कि कल्पित वस्तु की तो कोई हस्ति ही नहीं होती । तो फिर उनका छोड़ना या लेना कैसे हो सकता है ? इसलिये हमने ऐसा कहा कि "कल्पित को गला कर" ॥१२॥

सिंहाऽऽवलोकन-न्यायसे अथवा "द्विर्वद्धं सुवद्धं भवति" इस न्यायसे उक्त बातको परिपुष्ट करनेकेलिये अर्थात् पूर्वोक्त सिद्धान्त-ज्ञानको दृढ़तासे जमानेकेलिये फिर कहते हैं । सुनिये—

चिद्ब्रह्मौ स्वविलासेन कल्पितं विश्वकं हविः ॥
हुत्वा भजन् स्वमानन्दं जय स्वात्ममहेश्वर ! ॥१३॥

अपने विलाससे सम्पादित विश्वरूपी थोड़ा सा होम-द्रव्य, आत्म-स्वरूप चिद्रूपी अग्निमें होम करके अपने स्वरूपके आनन्दको पाता हुआ ऐ ! आत्मरूपी महेश्वर !

अर्थात् पूर्ण-शिव ! सर्वदा सर्वोत्कर्षसे विजयवान् रहो
तात्पर्य यह, कि यह अनन्त-कोटि-ब्रह्माण्डरूपी हो
द्रव्य सम्पादित किया। लेकिन इसके माने यह नहीं
यह किसी और जगहसे मांग लाया, या किसी अ
वस्तुसे बनाया, किन्तु कल्पना-मात्रसे ही तैयार किया
यद्यपि है यह थोड़ासा ही, और यह कल्पना भी ह
आत्मविलास-स्वरूप होनेके कारण की, तथा इसका ह
करनेसे कोई अनिर्वचनीय आनन्द ही पाया जाता
क्योंकि वह भी हमारा स्वरूप है। इसलिये चिद्रूपी अ
अर्थात् अपने आपमें ही होम कर, ऐ ! आत्ममहेश्वर
सर्वदा तुम्हारी जय रहे। क्योंकि सारा ही चरित्र
अपने आप विलक्षण है। अतः इससे अधिक कौन
कह सकता है ? और किसको कह सकता है।
'है' और 'नहीं' इन दोनोंका होम हो जाता है ?
उससे मिलने वाला जो अपूर्व आनन्दाऽमृत,
भी जहां पच जाता है, वहां सिवा अपने आपके
क्या बच सकता है ? बस चुप ही है ॥१३॥

अब शङ्का यह होती है, कि फिर लोग जो मो
पानेकी इच्छा करते हैं, और इसीलिये "मुमुक्षुवैश्वर

प्रपद्ये" इत्यादि श्रुति-वाक्य भी मिलते हैं, तो इसकी क्या व्यवस्था होगी ? इसका भी उत्तर सुन लीजिये—

स्वात्मविज्ञानसम्पूर्णः कल्पनाबन्धनान्न हि ॥
दुःखं समश्नुते तस्मान्मोक्षाऽपेक्षा कथं भवेत् ॥१४॥

अपने आपके अनुभवसे परिपूर्णको कल्पनाके बन्धनोंसे दुःख कभी भी निश्चयसे नहीं हो सकता। इसलिये वहां अर्थात् उनको मोक्षकी इच्छा कैसे हो सकती है ? तात्पर्य यह, कि जिसने अपने आपको परिपूर्ण-रूपसे जान लिया, उसको कल्पनासे पैदा किये गये बन्धन कभी भी बांध नहीं सकते, यह निश्चय है क्योंकि कल्पित की अपनी कोई हस्ति ही नहीं रहती, यह हम कह चुके हैं। अतः उससे दुःख कभी भी नहीं हो सकता, तब मोक्षकी इच्छा क्योंकर हो ? कारण यह कि, जो बद्ध है वही मुक्त होना चाहता है। परन्तु जो बद्ध कभी हुआ ही नहीं उसने मुक्त होना क्या ? अर्थात् मोक्ष की इच्छा उसको कैसे हो ? ॥१४॥

देखिये, इसी बातको हम एक लौकिक दृष्टान्तसे भी आपको समझाते हैं। सुनिये —

स्वयं सम्पाद्य हर्म्यादि पुत्रादिभ्योऽर्पयन् यथा ॥
तदेकदेशं स्वात्मीयं मन्वानो दुःखभाङ् न हि ॥१५॥

स्वयं बड़े बड़े महलात सम्पादन करके, उनक अपने बाल-बच्चोंमें बांटकर उन मकानोंमेंसे किसी ए आध हिस्सेको अपने आपकेलिये रखकर और य इतना मेरा है, ऐसा माननेवाला पुरुष दुःखी नहीं होता यह निश्चय है। तात्पर्य यह कि, जिस तरह कोई बड़ा आदमी पहले अपने पराक्रमसे बड़े बड़े मकानोंको सम्पादन करता है। फिर अपने ही पुत्रोंमें बांट देता है, तथा छोटासा मकान या कोई बैठक अपनेलिये अलग रख कर कहता है, कि बाकी सब बेटों का है, सिर्फ यह बैठक या मकान मेरा है। परन्तु क्या वह दुःखी होता है! कभी नहीं। बल्के उलटा वह तो अपने आपको कृतकृत्य मानता हुआ अङ्गोंमें आनन्दसे फूलों नहीं समाता॥१५॥

तब क्योंजी ! फिर लोग रोते हुए और हंसते हुए क्यों नज़र आते हैं ? इसका कारण भी सुनिए—

सुखं दुःखं च तत्तस्य यथा येन प्रकल्पितम् ॥
परमार्थतया स्वात्माऽतिरिक्तं वस्तु नास्ति हि ॥१६॥

बात यह है कि, सुख और दुःख जैसा जिसने माना अर्थात् जिसने जैसी कल्पना की, वैसे ही उसको सुख दुःखादि है। यह बात तो लौकिक व्यवहारमें प्रत्यक्ष ही है। वस्तुतः अगर देखा जाए, तो आत्माऽतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है। तात्पर्य यह, कि अपने आपको जैसा चाहे वैसा मान लो। चाहे जीव मानों, चाहे शिव मानों, परन्तु तुम जो हो, सो हो ॥१६॥

अच्छा यह सब कुछ मान लिया। परन्तु अगर जीव-भाव ही किसीका दृढ़ हो चुका हो, तो वह क्या करे ? ठीक है, इसका भी उत्तर सुन लीजिए—

> जीवभावे दृढे यत्नो दृढः कार्यो मुमुक्षुभिः ॥
> विज्ञानाय स्वरूपस्य नोपायोऽस्ति ततः परम् ॥१७॥

अगर जीव-भाव दृढ़ हुआ है, तो उन मुमुक्षुओंको चाहिये, कि अपने आत्मस्वरूपके अनुभवकेलिये दृढ़ प्रयत्न करें। उससे बढ़ कर अच्छा उपाय कोई नहीं। तात्पर्य यह, कि जिस तरह अपने ही हाथसे कोई वस्तु कहीं रख दी हो, और फिर ख्याल उतर गया, पश्चात्

जब उस वस्तुकी आवश्यकता हुई तो ढूंढने लगे। पर
उस समय वह कहां रक्खी, अर्थात् वह कहां मिले
इस बातका स्मरण न होनेसे अर्थात् उपाय न मा
होनेसे, इधर उधर खोजने लगता है। परन्तु वह तर
अच्छा न होनेके कारण, वह वस्तु मिलती नहीं। उ
वस्तुके न मिलनेसे बहुत ही दुःखी होता है। उसी त
स्वयं अपने आप अपनी कल्पनासे ही अपने आप
जीव समझ बैठता है, परन्तु अपने आपको बद्ध समझ
के कारण दुःखी होता है। और फिर मुक्त होने
इच्छा करता है। अर्थात् बन्ध-मोक्षकी यही उपपत्ति
तब पश्चात् वह मुमुक्षु, अर्थात् मुक्त होनेकी इच्छा क
वाला, मुक्त होनेके लिये उपाय ढूंढता है। अगर
बन्धन दृढ़ हो तो उससे छूटनेका उपाय भी दृढ़ ही हो
चाहिये। इस बातको विशेष कहनेकी आवश्यकता न
अर्थात् अगर बन्धन दृढ़ है, और छूटना भी उससे च
हो, तो प्रयत्न दृढ़ करो। और वह प्रयत्न अपने आ
स्वरूपके पूर्ण अनुभव, अर्थात् पूरी पहचानके सिवा
नहीं है। अर्थात् इस उपायसे बढ़ कर अच्छा उ
कोई नहीं है ॥१७॥

अच्छा, वह अपने आपकी पूरी पहचान किस तरह हो ? कोई लोग तो कहते हैं, कि यह जगत् परमाणुओं-से पैदा हुआ है । और वह पहले था ही नहीं, बीचमें ही पैदा हो गया । अर्थात् ईश्वर परमाणुओंसे जगत्को बनाता है । तात्पर्य यह है कि जो वस्तु थी, उस वस्तुसे नहीं थी, वह वस्तु पैदा हुई । इसलिये हम तो एक कार्य-मात्र हैं । अर्थात् हमको ईश्वरने पैदा किया । अर्थात् पृथिवी-आदिके परमाणुओंको जोड़ कर पैदा किया । तो हम अगर परमाणुओंके जोड़नेसे ही पैदा किये गये, ऐसा मान लिया जाए तो यह बात हमारे दिलमें नहीं बैठती । इत्यादि इत्यादि शङ्काएं बहुत तङ्ग करेंगी, इस-लिये हम इसकी असलियत आपको बताए देते हैं, साव-धान होकर सुनिये—

आरम्भः परिणामो वा विवर्त्तो वा चिदात्मनि ॥
बालान् प्रत्येव विद्वांसं प्रति सर्वं प्रकल्पितम् ॥१८॥

आरम्भ-वाद, परिणाम-वाद, और वैसे ही विव-र्त्त-वाद इस चिदात्मामें समझाया जाता है । वे सारे विवाद बच्चोंकेलिये हैं । विद्वानोंकी दृष्टिमें ये सब कल्पित ही हैं । अर्थात् इनकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है ।

आरम्भ-वादका स्वरूप यह है, कि किसीका किसी से बनना। जैसे एक मत ऐसा है, कि पहले कोई वस्तु है, उसने जो वस्तु नहीं थी, उसको पैदा किया। अर्थात् जैसे रहनेवाले माता पिता अविद्यमान पुत्रको पैदा करते हैं। इस बातको कणाद-मताऽनुयायी तथा गौतम मताऽनुयायी मानते हैं। अर्थात् वे यह कहते हैं कि ईश्वर एक वस्तु-सत् है, और उसने नित्य जो परमाणुरूप द्रव्य उसमें न रहने वाला अर्थात् असत् जो जगत् इसको पैदा किया। अर्थात् जगत् परमाणुओंसे पैदा हुआ, और ईश्वरने पैदा किया। इसी तरहसे बौद्धादिक कहते हैं कि जो वस्तु पहले कुछ थी ही नहीं, उससे 'है' ऐसी वस्तु यह जगत् पैदा किया गया है। जैसे पहले पुत्र नहीं था वह अब पैदा हुआ। अर्थात् पुत्रके अभावसे पुत्र अर्थात् पुत्र-भाव पैदा हुआ। इसवास्ते ये भी आरम्भ-वादी ही हैं। परन्तु बौद्धोंके मतका खण्डन हम द्वितीय प्रकरणमें कर चुके हैं, कि नहींसे है पैदा हो नहीं सकता। अब रह गये दूसरे आरम्भवादी अर्थात् 'है' वस्तुसे 'नहीं' वस्तुकी उत्पत्ति माननेवाले, उनका खण्डन आगे होगा फिर भी थोड़ा सा हम यहां समझाए देते हैं। सुनिये

जो वस्तु नहीं है, उसको 'है' वह वस्तु पैदा किस तरह करेगी ? कारण यह, कि जो वस्तु नहीं है वह तो सर्वदा नहीं ही है । तात्पर्य यह कि त्रिकालमें भी और प्रातिभासिक भी उसका "हैपन"का सम्भव नहीं । इसोलिये यह मत ठीक नहीं है । दूसरी बात यह है, कि ईश्वरने अगर नित्य-द्रव्यरूप परमाणुओंको छोड़ कर असत वस्तु पैदा की, तो हम यह पूछते हैं, कि परमाणुओंको ईश्वर कहांसे लाया । अर्थात् उनका कारण क्या है ? फिर यदि यह कहो, कि वे तो स्वयं ही बने हुए हैं, अर्थात् ईश्वर उन्हें नहीं बनाता, इसलिये साथ साथ यह भी मानना पड़ेगा कि ईश्वर परमाणुओंसे भिन्न है, अर्थात् ये परमाणु भी ईश्वरसे भिन्न हैं । तब हम यह कहते हैं, कि ईश्वर परमाणु नहीं है, तो उसमें एक बातकी बड़ी भारी कमी आ गई । यदि यह कहो कि, यह अपनी उसकी इच्छा है, तो हम यह पूछते हैं, कि क्या वह परमाणु बन सकता नहीं ? इसलिये परमाणु नहीं है ? या कि वह 'बनता नहीं' इसलिये परमाणु नहीं है ? जो तो यह कहो कि बनता नहीं, तो हम यह

पूछते हैं, कि क्यों नहीं बनता ? इसका उत्तर तो आ
पास कोई भी नहीं है। और यदि यह कहो, कि
सकता नहीं, तो हम यह कहते हैं, कि अगर वह
सकता नहीं तो वह ईश्वर कैसा ? क्योंकि ईश्वर शब्द
अर्थ ये हैं, कि सम्पूर्ण-ताकतोंवाला, अर्थात् स
शक्तिमान्, फिर अगर परमाणुओंको पैदा करनेकी इ
ताकत नहीं, या परमाणु बन सकता नहीं, तो वह ई
कैसे कहा जा सकता है ? इस वास्ते यह मत ठीक
है। परन्तु आरम्भ-वाद उन ऋषियों ने बहुत
निचले दरजेके जीवोंको समझानेकेलिये कहा है। अ
अधिकारी-भेदसे ठीक है। इस वास्ते हम यह कहते
कि यह बच्चोंकेलिये है। इसके ऊपरके अधिकारियों
लिये परिणाम-वाद समझाया जाता है। ज़रा साव
हो कर एकाग्र-चित्तसे सुनिये —

पहले मतमें इस सम्पूर्ण विश्वके बनानेवाले ईश्व
की उपासना करनेसे जीव दुःखोंसे छूटता है। द
मतमें अर्थात् परिणाम-वादमें ऐसी बात नहीं। कि
वे कहते हैं, कि प्रकृति और पुरुष इनको अलग अ
जान लेनेसे ही मुक्ति हाथ लग जाती है, अर्थात् प्र

और पुरुष को अलग अलग रूपसे पूरी तरहसे पहचान लेना ही मुक्तिका उपाय है। इसी उपायसे सम्पूर्ण दुःख जीवोंके दूर हो जाते हैं। अतः साङ्ख्य-वादी कहते हैं, कि ईश्वरको "है" ऐसे कुछ माननेकी ज़रूरत नहीं। परन्तु उन्हीं साङ्ख्य-वादियोंमेंसे अन्यतम कुछ अर्थात् योग-मताऽनुयायी कहते हैं, कि ईश्वरको बगैर माने काम नहीं चलता। अतः ईश्वरको मानना ही पड़ेगा। क्योंकि प्रकृति-पुरुष-विवेक होने पर भी दुःख दूर नहीं होते। परिणाम-वादका स्वरूप यह है। सुनिये— जो वस्तु है उसका दूसरे रूपमें दिखाई देना। यह दो तरहका होता है। एक विकृत और एक अविकृत। जैसे विकृतका उदाहरण दूधसे दही। इस परिणाममें दही दूधसे परिणत होकर एकदम बदल जाता है। अर्थात् दही दूधसे गुण दोष आदि सभी बातोंमें अलगसा दिखाई देता है। सूक्ष्म-दृष्टिसे देखा जाए तो मालूम हो जाएगा, कि दही रूपान्तरित दूधके सिवा और कुछ नहीं है। फिर भी उसको देख कर दूधकी झलक तक मालूम नहीं होती। इसलिये इसको विकृत-परिणाम कहते हैं। दूसरा अविकृत-परिणाम, जैसे स्वर्णके कटक कुण्डलादि, या मिट्टीके

घट, शराव (कशोरा) आदि इसमें सोना, कुण्डल या क
में स्पष्ट ही देखनेमें आता है। इसलिये सोनेमें कोई
विकार नहीं हुआ, और कटक या कुण्डलमें रूपान्त
सोना हो गया। इसी तरह मिट्टी और घटादिको सम
लीजिये। यह अविकृत-परिणाम है। इसको माननेवा
यही उदाहरण देकर समझाते हैं, कि प्रकृति, पुरु
सान्निध्यसे उन उन रूपोंमें बदल जाती है। कहीं दू
दहीकी तरह, और कहीं सोनेसे कुण्डलकी तरह। कुछ
हो, वे कहते हैं कि प्रकृति स्वयं जड़ होनेके कार
स्वयं कुछ नहीं करती, या कर सकती। परन्तु पु
चेतन है, और प्रकृतिके साथ नित्य ही संयुक्त रहता
और वह पुरुष यद्यपि कमलके पत्तेकी तरह पा
सर्वदा रहते हुए भी पानीसे एकदम अस्पृश्य ही रह
है, तो भी अपने प्रतिबिम्बको प्रकृतिमें पड़ा हुआ देख
प्रकृतिसे "मैं अलग हूं" ऐसा न समझनेके कारण
दुःखादि प्रकृतिके निमित्त अपने समझ, भोगता
वस्तुतः वे उसके नहीं है, न उसके हो सकते हैं।
जो कुछ यह सम्पूर्ण जगत् है, यह प्रकृतिका ही परिण
है, ऐसा कहते हैं। इस मतको साङ्ख्य, योगी, पा

आदि बहुत लोग मानते हैं। हां साङ्ख्य-मतमें पुरुष अनन्त हैं, और प्रकृति एक है। और इन प्रकृति-पुरुषोंका विवेक होना ही सम्पूर्ण दुःखोंसे छूटना है, यह हम कह चुके हैं। परन्तु इस मतमें प्रकृति और पुरुष इनका संयोग किसने किया, और इनसे विवेक कौन करता है, इसका उत्तर चित्तको सन्तोष देनेवाला नहीं मिलता। कारण यह, कि अगर यह कहें कि पुरुष स्वयं ही अपनी इच्छासे ऐसा कर सकता है, तो यह सम्भव नहीं। कारण, साङ्ख्य-मतमें कर्तृत्व, प्रकृतिमें है, पुरुषमें नहीं। अतः इस मतके माननेसे ही काम नहीं बन सकता। और भी बहुतसी बातें हैं। जो कि हम आपको थोड़ेमें बतलाते हैं, जिससे आप जान जाएंगे, कि यह मत ठीक नहीं है। जैसे प्रकृतिको जड़ मानना और साथ साथ अलग अलग मानना, और उसमें कर्तृत्व मानना, यह परस्पर असङ्गत बातें हैं। जैसे कोई कहे कि मेरी माता वन्ध्या है, तो क्या ऐसा हो सकता है ? उसी तरह जड़में कर्तृत्व रह नहीं सकता। इसी तरह बहुतसी परस्पर विरोधी बातें कहनेके कारण साङ्ख्य-वादी बच्चे ही मालूम होते हैं। परन्तु निचले अधिकारियोंको समझानेकेलिये तो यह रास्ता भी अच्छा है। इसी बातको समझानेके

लिये पतञ्जलि-मताऽनुयायी उन अनन्त पुरुषों में से पुरुष-विशेषको ईश्वर मान कर कहते हैं, कि प्रकृति-पुरुष-विवेक ईश्वरके प्रणिधान होगा। और प्रकृति-पुरुष-संयोग भी उस ईश्वर कारण ही होता है। अर्थात् वह ईश्वर असली कर्ता है फिर भी जगत् प्रकृतिका परिणाम है। और पुरुष प्रकृतिमें अपना प्रतिबिम्ब डालता हुआ सुख दुः भोगता है। और और परिणामवादी, एक-पुरुष-वादी हैं। पाशुपतमताऽनुयायी भी परिणामवादी ही हैं विशिष्टाऽद्वैतवादी रामानुजादि भी परिणाम-वादी हैं अस्तु। परन्तु परिणाम-वादसे चित्ताका ज्ञान हो पर भी उद्देश्य, जोकि आनन्द है, वह नहीं आता और बहुतसे परिणाम-वादमें दोप हैं। अतः यह मत ठीक नहीं, जो बच्चोंकेलिये ही हो सकता है। इस और ऊपरले लोग सूक्ष्म विचार करते हुए कहते हैं, विवर्त्त-वादसे अगर दुनियांकी पहेलीको सुलझाया जा तो बहुत शीघ्र ही सुलझाई जा सकती है। वे कहते कि जगत् सच्चिदानन्द परमात्मामें विवर्त्त-मात्रसे दिख देता है। विवर्त्त-वादका स्वरूप यह है। अत्यन्त असत्

प्रतीति होना। जैसे सीपमें चांदी नहीं होती, या डोरीमें सांप नहीं होता, परन्तु धूपके कारण, और अन्धेरेके कारण वहां चांदी और सांपका भ्रम होता है। उसी तरह अज्ञानके कारण परमात्मरूप अधिष्ठानमें जगत्का भ्रम जीवको हुआ करता है।

तात्पर्य यह, कि रेगिस्तानमें गर्मीकी धूपमें अथाह जलका भास होता है। और तभी सैकड़ों हिरण अज्ञान के कारण उस जलको पीनेकेलिये दौड़ते हैं। परन्तु जहां जलका बूंद तक नहीं, वहां उन्हें जल कहांसे मिले? और इस बातको न समझते हुए छटपटा कर मर जाते हैं। अर्थात् यह जगत् अत्यन्त असत् अर्थात् तीनों काल-में इसकी किसी प्रकार भी सत्यता न सिद्ध होने पर भी सत्य सा दिखाई पड़ता है। अतः ज्ञानसे इस अज्ञानको हटानेसे मोक्ष मिल जाता है। अर्थात् सम्पूर्ण दुःख दूर हो जाते हैं, ऐसा भी कहते हैं। इन विवर्त्त-वादियोंमें वेदान्ती मुख्य हैं। परन्तु इस मतमें भी एक बड़ा भारी दोष है, कि जब अविद्या कोई वस्तु ही नहीं, अर्थात् जगत् अत्यन्ताऽभावरूप है, तो उसकी प्रतीति कैसे? अगर प्रतीति है, तो प्रातिभासिक सत्ताका स्वीकार करना

होगा। और सत्ताका स्वीकार कर लेने पर भ्रम का
ही भ्रम होता है। अर्थात् "वदतो व्याघात" दोप हो
है। इसी कारण विवर्त्त-वाद भी सम्पूर्ण शङ्काओंको
नहीं कर सकता। बल्कि उलटा भ्रम भ्रम चिल्ला
हुआ स्वयं भ्रम-स्वरूप उन अच्छे समझदारोंको
भ्रमके चक्करमें डाल देता है। और जहांसे फिर निकल
की कोई सूरत ही नहीं मालूम देती। यह तो व
"स्वयं नष्टः परान्नाशयति" की तरह ही हो जाती है
यद्यपि पहले अधिकारियोंकी अपेक्षासे इसके अधिका
ऊंचे दरजेके अवश्य होते हैं, फिर भी यह विश्व-पहे
नहीं सुलझा सकते। अतः यह बात भी बच्चोंकेलि
ही ठीक है। क्योंकि, विद्वान्की दृष्टिमें अर्था
आत्माऽनुभवी पुरुषकी दृष्टिमें ये सब विवाद कलि
हैं। और इसका मूल अपने आप चिदात्मा ही है
अपने आपका चिदात्मत्व इन अनेक तरहके कलि
विवादोंसे कुछ कुछ जाना जा सकता है। वस्तुतः ऐ
भी कहना नहीं बनता। कारण, सापेक्ष जोड़ियां इस
ही नष्ट हो जाती हैं, और पैदा होती हैं। जहां त्रिपु
अर्थात् ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय इत्यादि एक-रस हो जाती

वहां कौनसा वाद हो सकता है ? और कौनसा नहीं हो सकता ? तथा इस बातको भी कौन जाने ? और कैसे जाने ? और क्यों न जाने ? तथा कैसे न जाने ? इनमेंसे कुछ भी कहना ठीक नहीं बनता । तथापि इसके अर्थ यह नहीं, कि फिर कोई वस्तु ही नहीं रहती । कारण जब त्रिपुटी अपने अपने अलग अलग स्वरूपसे चमकती है, तब सब कुछ कहना सम्भव हो जाता है । इसीलिये हमने "चिदात्मनि" ऐसा कहा है। अस्तु ॥१८॥

यह जो कुछ कहा गया, यह सब कुछ ठीक ही है । परन्तु फिर भी हमारा संशय बिल्कुल निर्मूल हो जाए, इसलिये हमें यह मालूम होना चाहिये, कि स्वतन्त्रता है क्या वस्तु ? और साथ साथ यह भी मालूम हो कि परतन्त्रता किसे कहना चाहिये । ठीक है, तो फिर सुनिए—

परमार्थतया स्वात्मविज्ञानं हि स्वतन्त्रता ॥
अतोऽन्यथा तु विज्ञानं पारतन्त्र्यं प्रकीर्तितम् ॥१९॥

अपने आपका ठीक तरहसे अर्थात् वस्तुतः अनुभव करना, इसीका नाम स्वतन्त्रता है । इससे उलटा अनुभव

ही तो परतन्त्रता कहलाती है। तात्पर्य, अपने आ
को वास्तवमें "मैं क्या हूँ" इसके अनुभवको स्वतन्त्र
कहते हैं। अभी तक कई बार अच्छी तहरसे यह क
गया है, कि "जीवोऽहम्" और "शिवोऽहम्" इन दोनों त
के, और तो क्या, ज्ञानके जितने ही प्रकार हैं, अर्थ
वे काल्पनिक हों, अथवा व्यावहारिक हों, अर्थात् सू
हों या स्थूल, किसी तरहके हों, उन सम्पूर्ण प्रकारों
एक-मात्र अधिष्ठान, आत्मरूप है हां यह न समझ
चाहिये कि ये सारे ज्ञान अनारके अन्दर अनारके दानों
तरह, आत्मामें रहते हैं। इनका तो अधिष्ठानाऽधिष्ठे
भाव-सम्बन्ध कुछ अपूर्व ही है। दूसरी दृष्टिसे देखा जा
तो ऐसा भी कह सकते हैं, कि इनका कोई सम्बन्ध
नहीं मानों। क्योंकि सम्बन्ध तो दो वस्तुओंमें होता है
जहां दो वस्तुएं ही न हों, वहां उनके सम्बन्ध की शङ्
तक नहीं हो सकती, फिर उनका निर्णय कहां औ
कैसा ? अस्तु। और इस तरहसे अपने आप
समझना अर्थात् अपने आपमें परिपूर्णताके अनुभव
उपभोग करना, इसीका नाम स्वतन्त्रता है। इसीलि
इससे उलटा अर्थात् अपने आपके अधूरेपनका अनुभ
करना, इसको परतन्त्रता कहते हैं ॥१९॥

परतन्त्रता क्यों आई ? अर्थात् इसका कारण क्या है ? उद्देश्य नहीं । और इसको दूर करनेका उपाय क्या है ? वादीने जब इस तरह शङ्का की तब हम कहते हैं कि इसका उत्तर भी सुनिए—

पारतन्त्र्याऽनुसन्धानात् सम्प्राप्तं पारतन्त्र्यकम् ॥
स्वतन्त्रताऽनुसन्धानं विनाशयति तत्क्षणात् ॥२०॥

परतन्त्रताके अनुसन्धानसे परतन्त्रता कमाई, अर्थात् प्राप्त की । स्वतन्त्रताका अनुसन्धान उसी क्षण परतन्त्रताको समूल नष्ट कर देगा । तात्पर्य, 'मैं परतन्त्र हूँ' इस तरह सर्वदा अपने आपको समझनेसे अर्थात् "मैं परतन्त्र हूँ, मैं परतन्त्र हूँ", इसी तरह दृढ़ अनुसन्धान अर्थात् श्रवण मनन निदिध्यासन करके हमने परतन्त्रता अच्छी तरह प्राप्त की है । अगर हम उसे मिटाना चाहें तो ठीक इसके उलटा अर्थात् "मैं स्वतन्त्र हूँ" इस तरहका दृढ़ अनुसन्धान अर्थात् श्रवण मनन निदिध्यासनका दृढ़ अभ्यास करना चाहिये । जिस समय इस अनुसन्धानकी चरम सीमा हो जाएगी बस उसी क्षण परतन्त्रता समूल नष्ट हो जाएगी ॥२०॥

भला परतन्त्रताका अनुसन्धान पहले क्यों किया अब और उसको मिटानेका यत्न करना, यह ठीक बात नहीं। अगर हम इसको ठीक मान लें, हमें यह मानना होगा, कि ऐसा करने वाला स्वयं ई ना-समझ है। नहीं, ऐसी शङ्का करना उचित नहीं कारण सुनिये—

> स्वासमन्ताद्यथा बालो भ्रान्त्वा भ्रान्तः पतन् भुवि ॥
> उत्तिष्ठति भ्रान्तिनाशे स्वानन्दनिरतो मुहुः ॥२१॥

बच्चा अपने आपके चारों ओर चक्कर लगाता हु चक्कर खा कर जिस तरह पृथ्वी पर गिरता है, फिर उस चक्करके नष्ट होने पर उठ खड़ा होता है, वार अपने आनन्दमें मग्न हो ऐसा किया करता तात्पर्य, कि जिस तरह बच्चे अपने आनन्दकेलिये अपने आनन्दमें ही निमग्न वार वार अपने ही ओर घूमते हैं, और घूमते घूमते चक्कर खा कर पर गिरते हैं, तथा फिर उस आये हुए चक्करके होने पर उठ कर खड़े हो जाते हैं, इसी तरह वा

करते हैं, क्योंकि इसमें एक बड़ा अपूर्व आनन्द आता है, यह बात सभी जानते हैं ॥२१॥

> एवं स्वात्मा विलासेन कल्पितैः पाशबन्धनैः ॥
> जीवभावं भजन् कश्चिदानन्दं विन्दते मुहुः ॥२२॥

इसी तरह यह अपने आप विलाससे कल्पित किए पाशके बन्धनोंसे स्वयं जीव-भावको लेता हुआ किसी अपूर्व आनन्दको बार बार पाता है। तात्पर्य यह, कि परमात्मा स्वयं समर्थ है। और वह विलासी भी है। इसीलिये बच्चों की तरह, अर्थात् निराशंस हो कर अर्थात् किसी भी वासना अथवा चाहको न रखते हुए ही अपने ही बनावटी पाशोंके बन्धनोंसे अपने आपको जीव बनाता हुआ किसी अपूर्व आनन्दको बार २ पाता है। तात्पर्य यह, कि पहले अपने आपको शिव समझना, पीछे जीव समझना, फिर जीव-भावको नष्ट कर देना, अर्थात् जीव-भावको छोड़ कर फिर शिव-भाव लेना और फिर इन दोनोंको एक दम गाइब करके अपने आपसे भी अलक्ष्यसे बन बैठना, इसमें कोई अपूर्व आनन्द आता है, तात्पर्य यह कि सम्पूर्ण रूपसे स्वतन्त्र

रहना, यही मानों काम है। अगर यह जीव-भाव पाए, तो जीव-भावकी आनन्दको कमी रह जाएगी। अ सम्पूर्ण भावोंको अपने आपमें लीन कर अलक्ष्यसा हो, तो अलक्ष्यताकी कमी रह जाएगी। अतः कहना पड़ता है, कि यह पूर्ण स्वतन्त्र है। इसीलि ऐसा किया करता है, और इसीलिये आत्माऽनुभ जगत्को समझाया करते हैं, कि आत्मस्वरूप सच्चिदान कन्द है, इत्यादि मङ्गलाचरण-कारिका में कहा है॥

हां जी ! ठीक है, यह बात तो बिल्कुल ठीक है। हम किस तरह पाएं ? और क्या करें ? अब एक बार समझा दीजिये, कि इसकी प्राप्ति कहांसे हो सकती इसका भी उत्तर सुनिये—

> श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं स्वं श्रोत्रियाद् ब्रह्मनिष्ठतः ॥
> विज्ञाय सच्चिदानन्दरूपे विहरतां सदा ॥२३॥

अपने आपको श्रोत्रिय अर्थात् सिद्धान्तज्ञा शब्द-ब्रह्म-निष्णात और ब्रह्मनिष्ठ अर्थात् अनुभवज्ञा गुरुसे अपने आपमें श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठताका अनुभ करके फिर अपने सच्चिदानन्दरूपमें सर्वदा विहार करो

तात्पर्य, जिस समय यह इच्छा हो जाए, कि मैं "कौन हूँ" अर्थात् मेरा स्वरूप क्या है ? उसी समय गुरुदेवके पास नम्रभावसे जाए । इसमें किसी आश्रमकी या किसी वर्ण की, या किसी देशकी, या किसी जाति की, शर्त नहीं है । शर्त केवल है गुरुकी, अर्थात् गुरुकी परीक्षा करनी चाहिये । जिस समय वह गुरु परीक्षामें ठीक हो जाए, बस उसी समय और उसीके पास जाना चाहिये। गुरुकी परीक्षा करनेकेलिये इन लक्षणोंको देखना चाहिये— यह श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ है अथवा नहीं ? श्रोत्रियके अर्थ यह होते हैं, कि जिसने अपने सम्प्रदाय-क्रमानुसार सद्गुरुसे साङ्गोपाङ्ग ज्ञान प्राप्त किया है। अर्थात् साङ्गोपाङ्ग जिसने स्वाध्याय किया हो, उसको श्रोत्रिय कहते हैं । और फिर यह देखना, कि यह ब्रह्म-निष्ठ है वा नहीं, ब्रह्मनिष्ठका अर्थ, जिसने ब्रह्मका अर्थात् आत्मस्वरूपका परिपूर्ण विज्ञान प्राप्त किया है । क्योंकि परिपूर्ण ब्रह्मके विज्ञानीको ब्रह्मनिष्ठ कहते हैं । ये दोनों लक्षण यथा-सम्भव एक ही जगह मिलें, तो वह गुरु सर्व-श्रेष्ठ है । इनमें जितनी ही न्यूनता रहेगी उतनी ही

प्राप्तिमें देर होगी। अस्तु। यथा-सम्भव ऐसे गुरु
खोज करके उनसे यथा-विधि अपने आपको श्रोत्रि
और ब्रह्मनिष्ठ बनाओ। दोनों लक्षण अगर एकत्र
मिलें, तो जितना जहांसे मिले उतना ही वहांसे नम्र-भा
से ले लो। और सर्वदा उसके कृतज्ञ बने रहो। कृ
होनेसे ही गुरुकी दी हुई ज्ञान-कला भी पूर्णता
करा देती है। अस्तु। पश्चात् अपने आपके अद्वि
सच्चिदानन्दरूपमें जोकि मङ्गलाचरणमें वर्णित हो चु
है, और अभी तक तरह तरह से जतलाया गया
और आगे भी फिर समझाया जाएगा। उसी आ
आत्मस्वरूपमें विहार, अर्थात् अपना अभिलषित आन
करो। क्योंकि अगर गुरु श्रोत्रिय न होगा, तो वा
विवादसे शिष्यकी आकाङ्क्षाको पूर्ण नहीं कर सकेगा
और ब्रह्मनिष्ठ न होगा, तो आत्म-साक्षात्कार न
करा सकेगा। परन्तु इस बातको सर्वदा ध्यानमें रख
चाहिये, कि ब्रह्मनिष्ठ अश्रोत्रिय नहीं होता। चाहे
पहले कुछ पढ़ा हो, या न पढ़ा हो। क्योंकि श्रु
स्मृति आदि सम्पूर्ण शास्त्र और सबसे ऊपर आत्मा

भवका तो अन्तिम निर्णय यही है, कि ब्रह्मनिष्ठ और ब्रह्म इन दोनोंमें काल्पनिक भेद भी नहीं रहता, अतः ब्रह्मनिष्ठ सम्पूर्ण आशङ्काओंका निराकरण कर सकता है। क्योंकि वह गुरु-श्रेष्ठ सर्व-शक्ति-स्वरूप है। अर्थात् परिपूर्ण है। तो वहां श्रोत्रियताकी कमी कैसे रह सकती है? साधारण व्यवहारमें जिनको ब्रह्मनिष्ठ कहनेमें आता है, वे वस्तुतः ब्रह्मनिष्ठ नहीं हैं। किन्तु किसी कोटिके ब्रह्मनिष्ठ हैं। और वास्तवमें जो ब्रह्मनिष्ठ ही हैं, वे तो परिपूर्ण ही हैं। ऐसा तत्त्व-दर्शियोंका अनुभव है। परन्तु ऐसे पुरुष सहस्रों वर्षोंमें और करोड़ों कोसोंमें एक आध ही हुआ करते हैं। और इनकी पहचान भी कोई विशेष पुरुष ही कर सकता है। अतः हमने यह कह दिया है, कि यथा-सम्भव ऐसे ही गुरुकी खोज करे ॥२३॥

और अधिक क्या, अन्तिम बात तो यह है, कि सुनिए—

इच्छन्ति नित्यमिह सौख्यसुधासमुद्रं
स्वातन्त्र्यमेव पशुपक्ष्यमरादयोऽपि ॥
तस्मात् बुधैः खलु तदेव समर्थनीयं
नान्यत् किमप्यपरमस्ति हि शिक्षणीयम् ॥२४॥

यहां अर्थात् चराचर ब्रह्माण्डमें सभी आनन्द
अमृतके समुद्र-स्वरूप स्वातन्त्र्यको ही, पशु, पक्षी, देव
आदि तक सर्वदा चाहते हैं। अतः समझदार लो
उसीको चाहें। और निश्चयसे उसीको साधना
चाहिए। इससे बढ़ कर कोई भी दूसरी बात सीख
या सिखाने योग्य नहीं है। ऐसा निश्चित हो चुका है
तात्पर्य, स्वातन्त्र्य अर्थात् पूर्ण स्वतन्त्रता यह आनन्द
रूपी अमृतका समुद्र है और उस आनन्दको सर्वदा सब
चाहते हैं। इन अनन्त-कोटि-ब्रह्माण्डोंमें एक भी ऐ
न मिलेगा, जो इसको न चाहता हो। चाहे वह पशु है
या पक्षि हो, और तो क्या देवता भी इसी एक बात
पीछे पड़े हुए हैं, तब फिर आप-जैसे समझदार लोगों
को क्या इस बातका निश्चय कराना पड़ेगा? कि आ
भी उसी स्वातन्त्र्यको चाहें। तात्पर्य यह, कि आप लोगों
को सर्वदा इसीकी चाह करनी चाहिए। और परिश्रम
उसी स्वातन्त्र्यको प्राप्त करना चाहिये। इससे बढ़
दूसरी बात सीखने और सिखानेके योग्य कोई भी न
हो सकती। यह बात मूर्खसे लेकर विद्वान् तक औ

चाण्डालसे लेकर ब्राह्मण तक, ज्यादः क्या, छोटी छोटी कीडी मकौडिसे लेकर ब्रह्मा-पर्यन्त सभीने निश्चित करदी है। अतः हम भी इसी बातको बार बार आप लोगोंसे प्रार्थना करेंगे, कि उसी पूर्ण स्वातन्त्र्य को प्राप्त करिये ॥२४॥

पशोः पशुपतिप्राप्तिकरं परशिवप्रदम् ॥
स्वतन्त्रेण स्वतन्त्रस्य स्वातन्त्र्यं सुनिरूपितम् ॥२५॥

पशुको पशुपतिकी प्राप्ति करानेवाला और लक्ष्य और अलक्ष्य-स्वरूप परम-कल्याण-रूप परशिवके ज्ञानको करा देनेवाला यह स्वातन्त्र्य-प्रकरण स्वतन्त्रने अच्छी तरहसे निरूपित किया। तात्पर्य यह, कि इस प्रकरण को अर्थात् जिसमें स्वतन्त्रताका, और उस स्वतन्त्रताका जो कि परिपूर्ण है। और कीड़ीसे लेकर ब्रह्मा तक चाहते हैं, उसका अच्छी तरहसे निरूपण किया गया है। यह निरूपण सावधान हो कर देखा जाए, तो परम-कल्याण-स्वरूप परमेश्वरकी प्राप्ति अवश्य होगी। साथ साथ इसमें यह शर्त नहीं है, कि वह कोई विशेष

विद्वान या विशेष किसी जातिका या किसी आश्रम हो, चाहे वह पशु अर्थात् अत्यन्त अज्ञानी भी क्यों हो, उसको भी पशुपतिकी प्राप्ति अवश्य ही हो जाएगी क्योंकि यह स्वतन्त्रने ही अर्थात् शम्भुने ही कहा है तस्मात् जिसको अपने आपका परम-कल्याण करना हो, वह इस प्रकरणको अच्छी तरह सावधान हो कर समझ ले ॥२५॥

इति श्री-महामहिम-आचार्य-श्रीमदमृतवाग्भवसमुल्लासिते स्वोपज्ञ 'सुन्दरी' इत्याख्यराष्ट्रभाषाव्याख्यासमुल्लासिते आत्मविलासे स्वातन्त्र्यस्वरूपनिरूपणं नाम तृतीयं प्रकरणम् ।

——:o:——

॥ श्रीः ॥

चतुर्थं प्रकरणम् ।



महाविद्यानिरूपणम् ।

दूसरे प्रकरणमें अद्वैत तथा उसके सच्चिदानन्दताका स्वाऽनुभव-प्रदर्शन-पूर्वक निरूपण किया गया। तथा फिर वह सच्चिदानन्द परमात्मा इस जगत्के रूपसे क्यों विहार करता है, इसका कारण पूर्ण स्वातन्त्र्य बतलाया तथा उसका भी निरूपण अच्छी तरहसे तीसरे प्रकरण में किया गया। अब शङ्का यह होती है, कि बहुतसे विद्वान् ऐसा कहते हुए देखनेमें तथा सुननेमें आते हैं, कि जगत् अविद्यासे हुआ है, तो क्या यह बात ठीक है? हमने तो इसका कारण पूर्णस्वातन्त्र्य, अर्थात् सच्चिदानन्दकन्दता अर्थात् पूर्णाहन्ताविमर्श-स्वभाव जो परिपूर्ण अहम्महो-विलास कहा था, तो अब यह देखना होगा कि कौनसा मत ठीक है?

इसलिये यह महाविद्या-प्रकरण प्रारम्भ कि जाता है। आरम्भमें तन्त्रसे सिद्धान्त और मङ्गलाचर दोनों ही किये हैं। सुनिये—

स्वविलासस्वरूपा सा विद्याऽविद्याप्रकाशिनी ॥
महाविद्या महामाया परिपूर्णा जयत्यसौ ॥१॥

आत्मविलासस्वरूपिणी विद्या तथा अविद्या इ दोनोंको प्रकाशित करनेवाली वह यह महाविद्या, मह माया, परिपूर्ण सर्वोत्कृष्ट है। तात्पर्य, 'यह' अर्थात् प्रसि जो कि सर्वदा अपरोक्ष ही है। क्योंकि उसका अप स्वरूप अपना विलास ही है। विलास आत्मासे भि नहीं, यह हम कह चुके हैं। यही महाविद्या अर्थात् मह ज्ञानरूपिणी है, क्योंकि यह विद्या और अविद्या इ दोनोंकी प्रकाशिका है। अर्थात् जो विद्या और अवि इन दोनोंको प्रकाशित करे, वह सच्चिदानन्द ही हो सक है। अतः हमने कहा, कि अगर समझनेके लिये कु कहा जाए, तो इसको महाविद्या ऐसा कह सकते हैं कारण यह, कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीया, त तदतीत भी जो जाने, उसको सिवा महाविद्याके क्या क

जा सकता है ? क्योंकि, यदि सोनेवाला सच-मुच ही सोता हो, तो उसको यह नहीं मालूम हो सकता, कि मैं सोता था । तात्पर्य यह, कि सोना भी एक अवस्था-मात्र ही है । तथा उसका जाननेवाला सोते हुए भी जागते ही रहता है । अतः उसको पूर्ण ज्ञानस्वरूप ही कहना पड़ेगा । दूसरे स्वरूपमें यदि कुछ कहना हो, तो हम इसको महामाया कह सकते हैं । कारण यह, कि 'अघटितघटनापटीयसी' अर्थात् जो न हो सके, उसको भी कर दिखानेवाली शक्तिको माया कहते हैं । परन्तु यह माया खोजने पर कभी भी किसीको भी न मिली, न मिलती है और न मिलेगी । यदि इसको हाथमें भी पकड़लो, तो भी इसका कोई विशेष रूप ही हाथमें आएगा । वास्तवमें देखा जाए, तो यह रूप भी असत्य ही होता है । जैसे यदि किसीने मिट्टी हाथ में ले ली, तो कोई रूप ही हाथ आएगा । चाहे वह रूप ढेला हो, घड़ा हो, कशोरा हो, या और कुछ हो, आएगा कोई रूप ही । परन्तु अगर दूसरी दृष्टिसे देखा जाए, तो इसका आना या न आना बराबर ही है । क्योंकि, जो रूप है वह तो नामका ही रूप है ।

परन्तु कामका नहीं। कारण यह, कि वह अत्यन्त अ
है। अर्थात् कल्पना-मात्र है। इसी तरहसे मायाका
हाल है। लेकिन इस बातकी अर्थात् ऐसी माया
दिखाई देती है, या नष्ट हो जाती है, इस बातको जान
वाली भी कोई वस्तु है, तभी तो इस बातको ठहराया
उसी वस्तुको दूसरी दृष्टिसे हमने "महामाया" यह ना
आप लोगोंको समझानेकेलिये दिया है। वास्तवमें
महाविद्यासे पृथक् नहीं। तात्पर्य यह कि आत्माऽभा
वादी बौद्ध, जैन, तथा और और भी जो यह कहते
कि किसी वस्तुका भी कारणरूपमें जब बोध ही न
होता, तो उसको माननेको, या है, ऐसा कहने
स्थान भी कहां है? या हो सकता है? इसीलि
हमने उसको महामाया कहा है। अपने आपको
तरहसे छिपा रखना, और यहां तक छिपा रखना, मा
दूसरा तो क्या, अपने आप भी किसी तरह न जा
कि "मैं हूँ"। इसलिये अभाव-वादियोंका भी कह
किसी हद तक ठीक ही है। लेकिन सीमा = हदके अ
रह कर सीमाके बाहरकी खोज बन ही नहीं सकती
अतः हम यह कहते हैं, कि इस दायरेको अपने आ

अन्दर गला दो । अर्थात् सारे दायरोंके दायरा खुद बन जाओ । फिर देखो, कि क्या वास्तव में ऐसा है ? तो मालूम हो जाएगा कि नहीं, ऐसा नहीं । किन्तु वैसा भी है । क्योंकि, इस बातको भी ठहरानेवाला कोई तो पहले वर्तमान ही था, ऐसा मानना ही पड़ता है । वह वस्तु अप्रकट हो या प्रकट, यह नहीं कह सकते, कि वह नहीं थी, या नहीं है, या न रहेगी । जैसे गौके थनसे निकाले हुए दूधमें घी रहता है, या नहीं ? इस प्रश्नके निर्णयमें मानना होगा, कि अवश्य ही रहता है । चाहे वह फिर घीके रूपमें हो या न हो । 'है' यह तो कहना ही होगा । इसी तरह आत्मतत्त्व जिस समय महामाया-स्वरूप रहता है, उस समय यह कहना कठिन पड़ता है, कि वह है या नहीं । इसी कारण ऊपर ऊपर विचार करनेवाले कह बैठते हैं, कि आत्मस्वरूप नहीं है । वस्तुतः देखा जाए, तो वह महाविद्या-स्वरूप ही है । अर्थात् सर्वदा प्रकाशित ही है । फिर भी किसीको, या बड़ेसे बड़े विद्वान्को भी सोचते सोचते चक्कर खा कर बेहोश होना पड़ता है, इसका कारण भी वही है । इसीलिये हम उसको महामाया कहते हैं । महामायाका स्वभाव ही यह है, कि बड़े बड़े ज्ञानियोंको भी

मोहित कर डालना। ठीक भी है। क्योंकि, जिस त
अपनी छाया का उल्लङ्घन अपने ही पैरोंसे कभी भी
नहीं सकता, या पुत्र अपने पिता की उत्पत्तिको
नहीं सकता, या नमक का ढेला समुद्रका पता लगा
बता नहीं सकता। इसी तरह इस आत्म-विलास
पता बताया नहीं जा सकता। इसीलिये यह नहीं
सकता, कि उस वस्तुके पता न मालूम होनेसे वह
ही नहीं। जैसे छाया का उल्लङ्घन न होने पर भी छाया
यह तो मानना ही पड़ता है। पिता की उत्पत्ति
न देखने पर भी पिता की उत्पत्तिको सद्रूप मानना
पड़ता है। या नमकके ढेलेने समुद्र का पता न भी बतला
तो भी समुद्रकी सत्ता तो रहती ही है। इसी
आत्मस्वरूप चाहे आप न भी जान सकें, तो भी उस
क्षति कोई नहीं। उलटा उसका तो अपना लाभ ही
इसीलिये हमने इसको महाविद्या और महामाया
है। तथा यह महाविद्या, महामाया-स्वरूपिणी मह
है। अर्थात् अमाकी भी अमा है। अर्थात् अ
अर्थात् अमावास्याको चन्द्रमा अपनी सोलहों कला

अपने आत्मस्वरूप सूर्यमें सूर्यरूपसे ही विद्यमान रहताहै। इसी प्रकार ये सम्पूर्ण अमायें अर्थात् माया-शक्तियां अपने आत्मस्वरूपसे एक ही अधिष्ठानमें अज्ञात-रूपसे विद्यमान रहती हैं। इसीलिये इस आत्मस्वरूपको महामाया कहा जाता है। दूसरी दृष्टिसे देखने पर जैसे यह बात साफ २ मालूम हो जाती है, कि अमा ही पूर्णिमा है। अर्थात् उस दिन भी सोलहों कलाएं अपने आत्मस्वरूप सूर्यसे पूर्ण-रूपसे विकसित हो कर विद्यमान रहती हैं। और विकसित होना यह ज्ञानका स्वभाव है। परन्तु जिस आत्मरूप अधिष्ठानमें सम्पूर्ण पूर्णिमाएं विकास-भावसे अवस्थित होती हैं, उस महापूर्णमासीको महाविद्याके सिवा और क्या कहा जा सकता है? इसीलिये महाविद्या और महामाया इन दोनों नामोंसे समझा कर भी अगर कोई संशय रह जाए, तो उसको निवृत्त करनेकेलिये ही परिपूर्ण यह पद दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि, जो ओत-प्रोत-भावसे विद्यमान है, इसीलिये उसकी यहां द्वैतकी शङ्का भी नहीं हो सकती। उस ऐसे सर्वदा प्रत्यक्ष परोक्ष और अपरोक्ष सभी रूपोंसे

विद्यमान महाविद्याका अर्थात् आत्मस्वरूपका जयज कार हो रहा है ॥१॥

जिन विद्या और अविद्याको प्रकाशित यह म विद्या करती है, उन विद्या और अविद्याका क्या स्व है ? अर्थात् वह जड़ है, कि चेतन ? वादीके इस प्र पर हम कहते हैं कि—

> विलासोल्लासितत्वेन विद्याऽविद्ये तु चेतने ॥
> अपूर्णत्वाज्जडे ते स्तो जडाऽजडे इमे ततः ॥ २ ॥

विलाससे उल्लासित होनेके कारण विद्या अविद्या दोनों चेतन हैं, और अपूर्ण होनेके कारण हैं । इसलिये ये दोनों जड़ भी हैं और अ भी हैं । तात्पर्य यह है, कि विद्या और अविद्या दोनों विलाससे प्रकाशित की जाती हैं । अत एव इ चेतन कहना पड़ता है । कारण यह, कि जो वस्तु होती है, अर्थात् जिसकेलिए हम "है" ऐसा कहते वही चित् अर्थात् चमकने वाली होती है । उसका स्व कुछ स्वयम्प्रकाश होता है, और कुछ परप्रकाश है । शर्त यह है, कि उसकी सत्ता पारमार्थिक न

पारमार्थिक सत्ता तो एक आत्मस्वरूपकी ही है, यह हम कह चुके हैं। अब बाकी रही काल्पनिक सत्ता, फिर वह प्रातिभासिक हो या व्यावहारिक, हैं दोनों काल्पनिक ही, इसीलिये वह परप्रकाश भी होती हैं। हां कुछ स्वप्रकाश भी हैं। परन्तु यह बात तो आत्मस्वरूपके कारण होती है। कारण यह, कि कार्य और कारण इनमें सम्बन्ध ही कुछ ऐसा है, कि कारण की और उस परिपूर्णसमरस-कारणकी झलक तो कार्यमें अवश्य ही आती है। इसलिये काल्पनिक वस्तुमें भी स्वप्रकाशिता कुछ रहती ही है। जैसे, लकड़ी अगर सूर्य-प्रकाशके कारण प्रकाशित कोई देख सकता है, तो लकड़ीको लकड़ीके ही रूपमें प्रकाशित करना, यह जो सूर्य-प्रकाश का काम नहीं, ऐसा भी देखता है। यह तो लकड़ीका अपना काम है। क्योंकि लकड़ी भी आत्म-स्वरूप अर्थात् आत्म-स्वरूपसे ही कल्पित होनेके कारण कुछ स्वयम्प्रकाश भी है। बस समझ लीजिये, इसी तरह सम्पूर्ण कल्पित वस्तुएं चेतन हैं। तथा इनमें सम्पूर्ण-रूपसे स्वप्रकाशिता न होनेके कारण ही, अर्थात् अपूर्ण होनेसे कल्पित

वस्तुमात्र जड़ भी है। तात्पर्य यह, कि इन कलि
वस्तुओंको आत्म-दृष्टिसे चेतनता और अनात्म-दृष्टि
जड़ता होती है। अतः यह बात ठीक हो गई, कि वि
और अविद्या जड़ भी हो सकती हैं, और अजड़
हो सकती हैं ॥२॥

लीजिये और लोग और भी कहा करते हैं। उ
विषयमें भी सुन लीजिये—

विद्याऽजडा जडाऽविद्या इति केचिद्यदूचिरे ॥
अविचारितमेवास्तु रमणीयं सुदूरतः ॥ ३ ॥

कोई लोग कहते हैं, कि विद्या चेतन है, औ
अविद्या जड़ है। परन्तु यह बात दूर रहनेसे ही, औ
न सोचने पर ही, अच्छी मालूम होती है। तात
यह है, कि कोई लोग कहते हैं, कि विद्या और अवि
इन दोनोंमें दोनोंको चेतन और दोनोंको जड़ मान
ठीक नहीं। कारण यह कि दोमेंसे एकको ही चेतन मान
पड़ेगा, तभी दूसरे को जड़ मान सकते हैं, कारण य
कि दोनों अगर समान-रूपसे ही मानी जाएं, अर्थ
जड़ भी और चेतन भी, तो उनमें फरक ही क्या रहा

दूसरी बात यह है, कि परस्पर विरोधी धर्म एकत्र रह नहीं सकते। जैसे प्रकाश और अंधेरा एक जगह रह नहीं सकते। अर्थात् एक-समयाऽवच्छेदसे या एका-ऽधिकरणाऽवच्छेदसे नहीं रह सकते। अतः इन दोनों-को जड़ और अजड़ दोनों कहना ठीक नहीं बनता। इसलिए हम एकको जड़ और दूसरेको चेतन, ऐसा अवश्य ही कहेंगे। हां, उनका कहना ठीक है, परन्तु यह बात अगर अन्तस्तलमें जा कर सोची जाए, तो मालूम हो जाएगा, कि यह बात बिल्कुल ही असार है। हां, इसीलिये यदि इस बात को ठीक ही है, ऐसा कहना हो, तो यह कहना होगा, कि इस बातको सोचो ही मत। यह बात, इस सोचनेसे अत्यन्त दूर ही रहे, तभी यह अच्छी लगेगी। कारण यह है, कि सोचने पर इन अविद्याको जड़ कहने वाले और विद्याको चेतन कहने वाले विद्वानोंकी ढोलकी पोल खुल जाएगी। अतः इसका न सोचना ही अच्छा है। तात्पर्य यह, कि जब हम इस पर विचार करते हैं, तो मालूम होता है कि आपका कहना ठीक नहीं है। आप जो यह समझते हैं,

कि दो परस्पर-विरोधी धर्म एकत्र नहीं रहते, परन्तु हमने कब कहा, कि ये एकत्र रहते हैं ? केवल अन्तर यह है, कि एकाऽधिकरणाऽवच्छेदसे या एकसमयाऽवच्छेदसे जो दो परस्पर-विरोधी धर्मोंका एकत्र रहना आप अस्वीकृत करते हैं, यह बात तो हमें भी अनुमत है। है। लेकिन इसलिये विद्या और अविद्या इन दोनोंको जड़ और चेतन दोनों कहना नहीं बनता, ऐसा जो आप समझ रहे हैं, यह गलती है। कारण यह, कि वस्तुतः चेतनत्व और जडत्व ये दोनों आरोप-मात्र हैं, और आरोप-मात्रकेलिये दो ही क्या, परस्पर-विरोधी करोड़ों धर्म एकमें अर्थात् एकाऽधिकरणाऽवच्छेदसे और एक समयाऽवच्छेदसे आरोपित होते हैं। इसकेलिये दूसरे प्रकरणकी दसवीं और ग्यारवीं कारिका देखो। वहां हम इस बातको सिद्ध कर चुके हैं। और दूसरी बात यह भी है, कि हमारे मतमें विद्या और अविद्या ये दोनों ही आरोप-मात्र ही हैं, अर्थात् केवल काल्पनिक हैं, इस बातको हम आगे स्पष्ट करेंगे। तीसरी बात यह भी है, कि दृष्टि-भेदसे सब परस्पर-विरोधी धर्म एक

समयमें और एक जगहमें रहते ही हैं। अतः आपकी शङ्का केवल कुशङ्का-मात्र है। इसीलिये हमने यह कहा कि विना अन्दर घुस कर सोचे ही आपकी बात अच्छी लगती है। इसलिये वह दूर ही रहे। अस्तु ॥३॥

घड़ी भरकेलिये इतना होने पर भी 'दुर्जनतोप-न्याय' या अभ्युपेत्यवादसे समझानेकेलिये हम कुछ कहेंगे सुनिए—

स्वात्मप्रकाशकत्वेन विद्या चेदजडा ततः॥
जगत्प्रकाशकत्वेनाऽविद्या किं नाऽजडा भवेत्॥ ४॥

आत्म-स्वरूपकी प्रकाशिका होनेसे विद्याको यदि चेतन कहा जाए, तो जगत्की प्रकाशिका होनेसे अविद्या को चेतन क्यों न कहा जाए? तात्पर्य यह है, कि आप जो यह समझ बैठे हैं, कि प्रकाशक चेतन होता है, और छिपानेवाला जड़ होता है। वास्तवमें तो यह जो आपका जड़-चेतन-लक्षण-निर्णय है, यह अप्रयोजक है। इस बातको हम कहेंगे। अस्तु। फिर भी ऐसा ही मान लिया जाए, तो भी हम यह कहेंगे, कि यह बात

आपकी ठीक नहीं है। कारण यह, कि विद्या प्रकाशि करती है। यह प्रण तो नहीं है, कि अमुक व को ही प्रकाशित करे। इसलिये हम यह कहते हैं, कि आप जो यह कहते हैं, कि अपने आत्मस्वरूपको प्रकाशित करनेसे विद्या चेतन है, तो हम यह पूछते हैं, कि जगत्को प्रकाशित करनेसे अविद्या क्यों न चेतन हो! अर्थात् प्रकाशकत्व-धर्म-मात्रसे यदि विद्याको चेतन आ सकती है, तो वह प्रकाशकत्व-धर्म अविद्यामें भी वर्तमान है। रह गई बात यह, कि आत्म-स्वरूपको प्रकाशित करना, और जगत्-स्वरूपको प्रकाशित करना ये दोनों बातें तो समान ही हैं। यदि यह कहो कि आत्म-स्वरूप प्रकाशकत्व, जिसमें हो, उसको चेतन कहना तो यह बात भी ठीक नहीं है। इस बातका उत्तर हम आगे देंगे, वस्तुतः हम तो यह कहते हैं, कि अन्तिम सिद्धान्त तो यह है, कि जगत्-स्वरूप भी तो आत्म-स्वरूप ही है। यदि आत्माऽतिरिक्त, जगत् कुछ वस्तु हो, तब उसका प्रकाशक और अप्रकाशकका विचार बनता है। अस्तु। इस तरहसे इतनी बात तो सिद्ध हो ही गई, कि प्रकाशकत्व-हेतुसे चेतनत्वकी सिद्धि

आपने कही थी, वह बात तो अविद्यामें भी लग जाती है। और इसीलिये आपके कथनाऽनुसार अविद्या जड़ सिद्ध नहीं होती। प्रत्युत चेतन सिद्ध हो जाती है ॥४॥

क्यों जी ? मान लिया घड़ीभरकेलिये ऐसा ही हो, परन्तु हम तो यह कहते हैं, कि विद्या आत्मप्रकाशिका है। और उसकी अभाव-स्वरूप अविद्या है, अर्थात् अविद्या तो कोई वस्तु ही नहीं ? तब उससे प्रकाशित होनेवाला 'जगत्' यह बात ही ठीक नहीं है, इसलिये हम यह कहते हैं, कि अविद्या जड़ है। और विद्या चेतन है। ठीक है। अच्छा, यदि आप ऐसा कहेंगे, तो यह बात भी ठीक नहीं है, क्योंकि शीघ्र ही आगे इस बातको हम समझा देंगे, कि यह क्यों ठीक नहीं है। लेकिन इस समय घड़ीभरकेलिये अविद्याकी तुम्हारे मताऽनुसारही काल्पनिक सत्ता स्वीकार कर तुम्हारे सारे प्रश्नोंका उत्तर देनेकेलिये हम अपना कुछ सिद्धान्त यहां समझाएंगे। और क्रमशः उदाहरण-प्रदर्शनपूर्वक तुमको तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर देंगे। इसलिये यह थोड़ा सिद्धान्त हमारा सुन लो—

स्वात्मप्रकाशिका विद्या स्वात्मप्रच्छादिका न हि ॥
एकाङ्गविकलत्वेन कथं पूर्णा भवेदहो ॥७॥

अपने आत्म-स्वरूपको प्रकाशित करनेवाली विद्या अपने स्वरूपको प्रच्छादित कर नहीं सकती। यह बात निश्चित है। इसलिये विद्या एक अङ्गसे विकल होनेके कारण उसको हम पूर्ण कैसे कह सकते हैं? यदि उसको पूर्ण कहा जाएगा, तो यह बड़े आश्चर्यकी बात जान पड़ेगी। तात्पर्य यह, है कि हम पहले विद्या और अविद्या इन दोनोंको जड़ कहनेके लिये हेतु दे चुके हैं, कि अपूर्णत्व ही जड़त्वका निर्णायक होता है। इसलिये हम यह दिखा रहे हैं, कि जिस विद्याको आप चेतन बना रहे हैं, वह विद्या हमारे अपूर्णत्व-हेतुसे जड़ हो जाती है। देखिये आत्म-स्वरूपको प्रकाशित करना इस धर्मसे अवच्छिन्नकल्पित-ज्ञान-विशेषको विद्या यह नाम दिया जाता है। और इसीलिये यह मानना पड़ेगा, कि आत्म-स्वरूपको प्रच्छादन करना, यह कार्य उस विद्याका नहीं है। हां, एक बात और भी है, कि यह तो उपलक्षणमात्र है। और इसीलिये एकाङ्ग-विकलत्व अपूर्ण-

त्वमें हमने हेतु दिया है। उसका तात्पर्य यह नहीं है, कि एक अङ्गसे विकलको अपूर्ण कहना, और दो अङ्गों-से विकलको अपूर्ण नहीं कहना। कारण यह, कि यहां दूसरे अङ्गकी भी विकलता है। सुनिये— जैसे विद्या स्वात्म-प्रच्छादिका नहीं है, इसी तरह जगत्-प्रकाशिका भी तो नहीं है ? अर्थात् जगत्-प्रकाशकत्व-रूप दूसरे एक बड़े धर्मकी भी विकलता है। अतः ऐसे बड़े बड़े मुख्य धर्मोंसे विकल होने पर भी विद्याको चेतन कहना, क्या आपको यह बात आश्चर्यकी नहीं मालूम होती ? हां, इसी बातसे एक और भी बात निकल पड़ती है, कि प्रकाशकत्व भीं पूर्णरूपसे आपके विद्यामें नहीं है। अतः प्रकाशकको चेतन कहना, इसके माने आपके मतमें क्या होंगे ? इसलिये आपका कहना बहुत ही ऊपर ऊपर है। इसी तरह अविद्या भी ठीक विद्याकी उलटी होनेके कारण जड़ और चेतन है। अपूर्ण होनेके कारण जड़ है, और चेतनसे उल्लासित होनेके कारण चेतन है ॥५॥

और भी थोड़ा सावधान हो कर सुनिये—

जगत्प्रकाशिकाऽविद्या जगत्प्रच्छादिका न हि ॥
अतो नाऽर्हति पूर्णत्वमविद्या विकलाङ्गिनी ॥६॥

जगत्की प्रकाशिका अविद्या जगत्की प्रच्छादिका न
होती यह बात निश्चित है। इसलिए अङ्गोंसे विकल अवि
को पूर्ण कहना ठीक नहीं बनता। तात्पर्य यह है,
जिस तरह विद्यामें आत्म-प्रच्छादकत्व और जग
प्रकाशत्व ये दोनों धर्म नहीं हैं, वास्तवमें होना और
होना यह क्या है? इस बातको अगली कारि
समझाएंगे। यहां इतना ही समझ रखिये कि ये दो
धर्म विद्यामें नहीं हैं। उसी तरह अविद्यामें भी जग
प्रच्छादकत्व और आत्म-प्रकाशकत्व नहीं रहता।
बात भी निश्चयसे सिद्ध ही है। अतः यह अविद्या
बड़े २ अङ्गोंसे विकल ही है। इसलिए यह भी पू
नहीं हो सकती, या पूर्ण कहलानेकी योग्यता न
रखती। यह बात अनायास ही प्रकट हो जाती है
अर्थात् अविद्या भी जड़ है, और इसके अर्थ यह न
कि यह चेतन नहीं, क्योंकि आत्मविलासोल्लासित हो
के कारण चेतन भी हुई है। इस तरह समझ लेने
पहले वादीको जो विरोध आते थे वे भी मिट जाते हैं
अस्तु ॥६॥

अब यह देखना है, कि विद्या और अविद्या इन दोनोंको जड़ और अजड़ जो ठहराया, उसमें युक्ति यह दी थी, कि विलासोल्लासित होनेसे चेतन कहना, और अपूर्ण होनेसे जड़ कहना। परन्तु इस सम्पूर्ण जगत्का जडाऽजड-विभाग जो कुछ देखा जाता है, क्या वास्तवमें वह इसी तरह है? क्योंकि, हम मनुष्यको चेतन कहते हैं, और वृक्षादिको जड़ कहते हैं। यदि विलासोल्लासित होनेके कारण कोई वस्तु चेतन कही जाए, तो वृक्षादि भी विलासोल्लासित होनेसे चेतन कहने पड़ेंगे। और अपूर्ण होनेसे जड़ कहा जाए, तो मनुष्य को भी जड़ कहना पड़ेगा। अतः और सब लोगोंने जैसा जड़ाऽजड़-विभाग किया है, उस तरहका आपका निर्णीत जड़ाऽजड़-विभाग नहीं मालूम होता। अतः हम कैसे मानें? क्योंकि, मनुष्यको जड़ कहना, और वृक्षादिको चेतन कहना, सिद्धान्त-विरुद्ध जान पड़ता है। इसलिये आप अच्छी तरह अपना मत समझाएं। इस तरह वादीके कहने पर हम कहते हैं सुनिए—

अपूर्णं जडमित्युक्तं पूर्णं चैतन्यमुच्यते॥
आपेक्षिकं तु चैतन्यं पूर्णं न परमार्थतः॥ ७॥

अपूर्णको जड कहते हैं, और पूर्णको चैतन्य क
हैं। अपेक्षासे ठहराया हुआ चैतन्य वस्तुतः पूर्ण न
होता। तात्पर्य यह है, कि "जो जो अपूर्ण है, वह
जड है" ऐसी व्याप्ति है। क्योंकि, अपूर्णको पूर्ण
की अपेक्षा रहती ही है। विना पूर्णताकी प्रा
शान्ति नहीं हो सकती। इसीलिये उसमें अर्थात् अ
पर-प्रकाशिता दिखाई देती है। इसलिये हम यह क
हैं, कि सम्पूर्ण सृष्टि, अर्थात् कल्पितमात्र अपूर्ण हो
कारण जड़ है। और इसीलिये सृष्टिमें अन्तिम शा
अर्थात् पूर्ण शान्ति नहीं मिलती। यद्यपि जगत्
आत्म-स्वरूप ही है, आत्म-स्वरूपाऽतिरिक्त कुछ भी न
परन्तु दृष्टि-भेदसे अर्थात् स्वभावसे परिपूर्ण होनेके का
अपूर्ण दृष्टिसे जगत्की आत्मस्वरूपाऽतिरिक्तता मा
जाती है। और फिर यह सम्पूर्ण जगत् कल्पित है,
कह सकते हैं। दूसरे शब्दोंमें यदि कहना हो, तो
कह सकते हैं, कि अपूर्ण-ज्ञान ही जगत् है। अच्छा,
तरह पूर्णको चैतन्य कहते हैं, चैतन्य और चेतन अ
धर्म और धर्मी इन दोनोंका द्वैत कल्पित-मात्र होने

वस्तुतः ये दोनों एक ही हैं। इसीलिये "चेतनमुच्यते" न कह कर "चैतन्यमुच्यते" कहा। इस तरह सम्पूर्ण सृष्टि आत्मस्वरूप होनेसे पूर्ण है, और इसीलिये चेतन है। अगर ऐसा कहा जाए, कि जब सम्पूर्ण सृष्टि पूर्ण ही है, तो इसको अपूर्ण कैसे कहा जाएगा? और फिर यह भी बात है, कि सृष्टि कल्पित होनेसे चेतन कैसे होगी? अजी! यह शङ्का तो बिल्कुल मामूली है। क्योंकि हम तो यह बता रहे हैं, कि पूर्ण-दृष्टिसे अर्थात् आत्म-दृष्टिसे सृष्टिको देखने पर मालूम होगा, कि सृष्टि पूर्ण ही है। इसलिये यह बात नहीं हो सकती, कि वह अपूर्ण नहीं, क्योंकि, अपूर्ण भी है और पूर्ण भी। अगर दूसरी दृष्टिसे भी समझाया जाए, तो हम यह कहते हैं, कि कार्यसे कारणका अनुमान होता है, क्योंकि, कारणसे कार्यकी सिद्धि होती है। अतः आत्म-स्वरूप तो पूर्ण है, और उसकी पूर्णता आपेक्षिक नहीं, किन्तु वस्तुतः है। इस बातकेलिये श्रुति-स्मृति आदि सम्पूर्ण ग्रन्थ, और स्वानुभव प्रमाण हैं। तब उस पूर्णसे, अर्थात् पूर्ण कारणसे उल्लासित सिर्फ जड़ क्यों हो? कारण यह कि पूर्णतामें

यह बात तो नहीं होती, कि एक वस्तु है, और एक न नहीं। इसलिये सब कुछ जड़ चेतन अर्थात् आपे पूर्णाऽपूर्ण उस परिपूर्णसे उल्लासित होता है। यहां और शङ्का हो सकती है, कि परिपूर्णसे उत्पन्न आ या आपेक्षिक पूर्ण कैसे होगा ? क्योंकि, कार्य, कारण अनुसार हुआ करता है। मनुष्य सन्तति मनुष्य हीं है, वृक्ष सन्तति वृक्ष, और मिट्टीसे बने घड़े मिट्टी तो हो सकते हैं ? अन्यथा घड़ोंका कारण रु माननी पड़ेगी। परन्तु ऐसा देखनेमें नहीं आता, हो भी नहीं सकता। इसलिये परिपूर्णसे परिपूर्ण हीं हां, ठीक है। कुछ कुछ ठीक है। परन्तु सूक्ष्म-दृ देखने पर ज्ञात होगा, कि यह बात ऐसी नहीं सुनिये— परिपूर्णसे परिपूर्ण ही होता है, इसके क्या ? कि उससे अपूर्ण नहीं होता ? असत् है। यह आपकी भूल है। क्योंकि, परिपूर्णका अर्थ हीं होता है, कि जो आपेक्षिक पूर्ण और अपूर्ण दो भरा हो। जब दोनोंसे भरा होगा, और तभी को परिपूर्णता प्राप्त होगी, तब यह बात कहां

कि परिपूर्ण से अपूर्ण उत्पन्न नहीं हो सकता ? अर्थात् यह नहीं कह सकते, कि परिपूर्णसे अपूर्ण और आपेक्षिक पूर्ण उल्लासित नहीं होते, या नहीं हो सकते। वस्तुतः उत्पन्न होना, या न होना, ये दोनों बातें बराबर ही हैं। इस बातको हमने कई बार समझाया है, और इसको आगे भी समझाएंगे। कारण यह, कि ये दोनों भाव कल्पित हैं। इस सिद्धान्तको भूलनेसे ही ऐसी कुशङ्काएं होती हैं। अस्तु। दूसरी बात एक औरभी है, कि यह कारिका अभ्युपेत्य-वादसे (दूसरे-वादीका कहना घड़ीभरकेलिये सत्य मान-कर समझाना) लिखी गई है। परन्तु ठीक देखा जाए, तो जगत् और आत्मा ये दो भिन्न वस्तुएं न होनेसे परिपूर्ण से परिपूर्ण ही होता है, ऐसा भी हम मानते हैं। और हमारा यह सिद्धान्त ही है, कि एक अत्यन्त छोटे परमाणुसे ले कर अत्यन्त बड़े अर्थात् परब्रह्म-पर्यन्त यच्च यावत् कल्पित-मात्र, और स्वतः सिद्ध सब एक ही है, और परिपूर्ण है। रह गया कल्पित जड़ाऽजड़विभाग, तो वह तो कल्पित ही है। अर्थात् असत्

है। यदि उसको भी प्रातिभासिक तौर पर, ऐसा मान लिया जाए, तो पुनः वह सद्रूप ही है, अर्थात् पुनः भी आत्मस्वरूप ही है। रह गई बा कल्पिताऽकल्पित की, तो वह तो परिपूर्णताको ही सिद्ध करती है, क्योंकि कल्पित और अकल्पित ये दोनों बा ठहरानेवाली परिपूर्ण सत्ता, अर्थात् पूर्ण-चैतन्य स्वरू सिद्ध ही हो जाती है। अच्छा, अब यह शङ्का है, कि एक वस्तु अर्थात् कल्पित वस्तु, यदि परिपू कही जाए, तो नाम-रूप-विभाग कैसे होगा ? जैसे, यदि एक लकड़ी है, तो उस लकड़ीको मिट्टी कोई भी कहत नहीं। मिट्टी ही क्या, लकड़ीमें भी जो रूप और जो नाम उस समय दिखाई देता है, उससे दूसरे रूप और नाम तक भी, वहां एक-समयाऽवच्छेदसे नहीं देखने आते, तो उसको परिपूर्ण कैसे कहा जाए ? हां ठीक है। सुनिये— हम तो यह कहते हैं, कि वहां अन्याऽन्य नाना रूपोंका होना, और न दिखाई दे इसमें बड़ा अन्तर है। यदि अन्धेरेमें कोई वस्तु दिखा नहीं देती, तो "वस्तु नहीं है" वहां ऐसा कौन कहे

केलिये तैयार है? अर्थात् कोई नहीं। इसलिये वहां अर्थात् हर एक वस्तुमें परिपूर्णता वर्तमान ही है। परिपूर्णता का बोध न होनेका कारण तो और ही है, वह यह है, कि आत्म-दृष्टिका अभाव, अर्थात् आत्म-दृष्टिसे न देखना। दूसरी रीतिसे यदि कहा जाए तो यह भी हो सकता है, कि परिपूर्णताका अविकास, अर्थात् हर एक वस्तुमें जिसी वस्तुत्वका अर्थात् वस्तु शक्तिका, जितने ही परिमाणमें विकास हुआ हो, उसीका बोध होता है, और इसीलिए उतनेही अंशको नज़रमे रखकर जड या अजड कहा जाता है। तथा यह विकास और अविकास ही जड-चेतन-व्यवहरका कारण है। एवं इसका मूल स्वातन्त्र्य है। इसका निरूपण पहले हो चुका है। तथा इसी पूर्ण स्वातन्त्र्यको महाविद्या कहते हैं। तब यह बात ठीक हो गई कि पूर्ण-स्वातन्त्र्य-शक्तिका अर्थात् महाविद्या-का, दूसरे शब्दोंमें कहना, अर्थात् आत्म-विलासका ही, सब कुछ जडाऽजड-विभाग, और जडाऽजड-स्फुरण, तथा उनका विवेक, स्वरूप है। मनुष्यको चेतन कहनेका कारण यह है, कि मनुष्यमें अन्य वस्तुकी अपेक्षया

स्वातन्त्र्य-शक्तिका विकास अधिक है। इसलिये वृक्षादिकी अपेक्षया मनुष्य चेतन है। इसीलिये हमने यह कहा है, कि आपेक्षिक चैतन्य वस्तुतः पूर्ण नहीं, अर्थात सम्पूर्ण प्रकारसे विकसित नहीं। दूसरी दृष्टिमें अर्थात् सङ्ख्यासे पूर्णता या अपूर्णता ली जाए, तो भी हमें कोई हानि नहीं। इसीलिये कारिकामें अपूर्ण और पूर्ण ऐसे साधारण पदोंका ही ग्रहण किया है। और कल्पितकी पृथक् सत्ता मान कर शङ्का करने वालोंका समाधान इस प्रकार हो जाता है, कि लकड़ीमें लकड़ीके रूपसे या नामसे, और जो शक्तियां देखनेमें आ रहीं हैं, उनसे अतिरिक्त सर्वथा विरोधी अर्थात् साधारण-दृष्टिसे कल्पनाऽतीत शक्तियां नहीं हैं, वह इसलिये अपूर्ण है। हां, इसपर यह शङ्का हो सकती है, कि फिर एक की अपेक्षया दूसरेको और लकड़ी आदिकी अपेक्षया मनुष्यको जो चेतन कहा जाता है, उसमें कारण क्या? क्योंकि सङ्ख्यासे अपूर्णता दोनोंमें जब समान ही है, तब किसको जड़, और किसको चेतन कहा जाए? तो वहां भी उत्तर यही है कि जहां स्वातन्त्र्य-शक्ति है, वह चेतन, और जहां वह नहीं हैं, वह जड। इसी तरह समझना चाहिये।

वस्तुतः सङ्ख्याकृत पूर्णता पर या अपूर्णता पर यह व्यवहार, अर्थात् जड़ाऽजड़-व्यवहार नहीं है, यह बात हम कह चुके हैं। एवंच यह बात सिद्ध हो गई, कि जड़ाऽजड़-विभाग पूर्णता और अपूर्णता पर है, और वह आपेक्षिक है। बस इस तरह समझ लेनेसे विद्या और अविद्या, जड़ और चेतन, अर्थात् दोनों जड़ और दोनों चेतन हैं, इसीलिये दोनों भी असत् हैं। यह बात भी अनायास सिद्ध हो जाती है। अन्य शङ्काओंका उत्तर आगे देंगे ॥७॥

अच्छा, ऐसा भी होने पर यदि हम यह कहें, कि अविद्याको जड़ता और विद्याको चेतनता, दूसरे ही रीतिसे दूसरे कहते हैं। और वह ठीक भी दिखाई देती है। जैसे—

> यदुच्येत जड़ाऽविद्या नश्यमानतया ननु ॥
> विद्याऽपि नश्यमानत्वाज्जडा भवितुमर्हति ॥८॥

अविद्या नश्यमान होनेके कारण, यदि जड़ कही जाए, तब तो विद्या भी नश्यमान होनेसे जड़ होनेके

योग्य है। तात्पर्य यह, कि अविद्या जड़ है, क्योंकि, व
नष्ट हो जाती है, और विद्या नष्ट नहीं होती, इसलि
वह चेतन है, ऐसा कहना नहीं बनता, कारण यह
कि वे दोनों सापेक्ष अत एव साथ ही साथ उत्पत्ति
विनाश-शाली हैं। अर्थात् जैसे शीशेको रखनेसे अर्था
उसको सम्मुख करनेसे ही, बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव सा
ही उत्पन्न हो जाते हैं। तथा शीशेको हटा लेने
दोनों भाव साथ ही नष्ट हो जाते हैं। प्रतिबिम्ब
अपेक्षया बिम्बभाव हो जाता है। इसलिये उस
सत् कहना अर्थात् नश्यमान नहीं है, ऐसा कहना न
बनता। जैसे कोई भी पुरुष पुत्रोत्पत्तिके पहले, पि
नहीं कहला सकता, और पुत्र-ध्वंसके बाद भी वह पि
कहने योग्य नहीं रहता। इसी प्रकार यदि अविद्या
नश्यमान माना जाए, तो विद्या भी अवि ाकी प्र
योगिनी होनेके कारण अनायास ही नश्यमान सि
हो जाती है। और नश्यमानको जड़ कहना, ऐसा य
नियम ठहराया जाए। तो इसी नियमके अनुस
वि ा भी जड़ सिद्ध हो जाएगी। इसलिये इस प्र

अविद्या को जड़ सिद्ध करने वाले, विद्याको ही जड़ सिद्ध कर बैठते हैं। तब ऐसे विद्वानोंको क्या कहा जाए ?॥८॥

क्यों जी! जगत् तो अत्यन्त असत् है, अर्थात् कल्पित-मात्र ही है, इस बातको तो सारे ही अद्वैत-वादी मानते हैं, तो फिर उनको "अविद्या है", ऐसा माननेकी क्या आवश्यकता है? अत एव निष्प्रयोजन अविद्या जड़ है, ऐसा ही आप कहोगे न? सुनिये—

> नास्त्येव यज्जगत्तस्योल्लासने किं प्रयोजनम्॥
> निष्प्रयोजनतया सा यद्यविद्या जडा भवेत्॥ ६॥

जो जगत् है ही नहीं, अर्थात् तीनों कालमें जिसकी सत्ता नहीं, ऐसे जगत्को उल्लासित करनेमें क्या प्रयोजन? अर्थात् कुछ प्रयोजन ही नहीं है। तब उस जगत्को उल्लासित करने वाली अविद्या भी निष्प्रयोजन ही है। इसलिए अविद्याको जड़ क्यों न कहा जाए? तात्पर्य यह है कि, पहले जगत् है, ऐसा मानना, तभी तो उस को उल्लासित करने वाली अविद्या भी है, ऐसा मानना पड़ता है। अर्थात् जगत्के उल्लासनके उद्देशसे, या कारणसे कहो। क्योंकि उद्देश और कारण एक ही हुआ

करते हैं। तब ऐसी अविद्या अतीव निष्प्रोजन होने अर्थात् आपके मतमें भी और हमारे मतमें भी जब जग कोई वस्तु ही नहीं, तब उसका उल्लासन कैसा ? और फिर उस उल्लासनकेलिए अविद्याकी सत्ता कैसी ? अर्थात् इस प्रकार सभी बातें निष्प्रयोजन होनेसे, अर्थात् व्यर्थ होनेसे वह अविद्या यदि जड कही जाए, तो क्या हानि है ? ॥९॥

वादीके इस शङ्काका उत्तर भी सुन लीजिए—

तदा स्वयम्प्रकाशस्य स्वात्मनो या प्रकाशिका ॥
निष्प्रयोजनतया सा जडा विद्या न किं भवेत् ॥ १० ॥

तब स्वयम्प्रकाशमान जो स्वात्मा, उसको प्रकाशन करने वाली जो विद्या, वह भी निष्प्रयोजन होनेसे जड़ क्यों न हो ? तात्पर्य यह, कि अविद्यामें निष्प्रयोजनत्व हेतुसे आपने जो जडत्व साधन किया उसी निष्प्रयोजनत्व हेतु से विद्या भी जड हो जाएगी, अर्थात् उस विद्याको भी हम जड क्यों न कहें ? निष्प्रयोजनता इस तरह है– आत्मा आपको स्वयम्प्रकाश मानना ही पड़ता है, यह बात हम २रे प्रकरणमें सिद्ध कर आए हैं। जैसे अन्धेरेमें वै

कर भी हम अपने आपके प्रकाशकेलिए अर्थात् जानने केलिए, कि "हम हैं या नहीं हैं" इस बातको सिद्ध करने केलिये किसी भी दूसरी वस्तुकी आवश्यकता नहीं रखते। इसीलिये तो आत्मस्वरूप स्वयम्प्रकाश है, यह बात सिद्ध हो जाती है। तब उस स्वयम्प्रकाश आत्म-स्वरूपको प्रकाशित करनेकी आवश्यकता क्या ? अर्थात् कोई नहीं। तब विद्या निष्प्रयोजन हो गई। स्वयम्प्रकाशको भी प्रकाशित करनेकेलिये किसी दूसरेकी सहायता की अपेक्षा रहती है, ऐसा यदि मानें, तो स्वयम्प्रकाश-शब्दके अर्थ क्या होंगे ? अतः ऐसा माननेकी आवश्य-कता नहीं है। इस बातको सोदाहरण आगे कहेंगे। अस्तु। एवं च यहां इतनी बात तो सिद्ध हो ही गयी ? कि निष्प्रयोजनत्व-हेतुसे अविद्याको जड़ सिद्ध नहीं कर सकते। कारण उसी हेतुसे विद्या भी जड़ सिद्ध हो जाती है ॥१०॥

इस पर आपके हृदयमें जो शङ्का आएगी, वह भी हम बताए देते हैं। सुनिये—

जड़प्रकाशकत्वेन जड़ाऽविद्या भवेद्यदि ॥
अध्यापकोऽपि मूर्खस्य मूर्ख एव भविष्यति ॥११॥

जड़की प्रकाशिका होनेसे यदि अविद्या जड़ हि हो, तो मूर्खको पढ़ानेवाला भी मूर्ख ही सिद्ध होगा तात्पर्य यह, कि जगत् कल्पित होनेसे, या अपूर्ण होने जड़ है, तो उसका जो प्रकाशक, उसको भी जड़ हो चाहिये। ऐसा यदि नियम कर दिया जाए, और फि कहा जाए, कि अविद्या, जड़ जो जगत् उसकी प्रकाशि है, अतः वह भी जड़ ही होनी चाहिये। वाह वा यह क्या ठीक है ? कि जड़को प्रकाशित करनेवाला होता है ? यह यहां कहांसे नियम आया ? क्योंकि, कहते ही उसको हैं, जिसमें स्वातन्त्र्य-शक्तिका वि न हो, या होकर उसका नाश हो चुका हो। तब बात कैसे, कि जड़को प्रकाशित करनेवाला भी जड़ जाए ? यदि ऐसा ही मान लिया जाए, तब तो कि मूर्खको पढ़ानेवाला अध्यापक भी मूर्ख ही कहलाए तात्पर्य यह, कि मूर्ख अर्थात् शिष्य और उसका अ पक अर्थात् गुरु इन दोनोंमें उलटा व्यवहार हो जाए अर्थात् पढ़ानेवालोंको शिष्य कहना पड़ेगा। परन्तु

तो कोई भी माननेको तैयार नहीं। अर्थात् बड़ेसे बड़े विद्वान् तो इस बातको मानते नहीं ही हैं। तथा साथ साथ मूर्ख भी नहीं स्वीकार करते, कि अध्यापकको, पढ़ानेके कारण शिष्य कहा जाए। इसलिए जड़को प्रकाशित करनेवाली अविद्या कदाऽपि जड़ नहीं हो सकती। दूसरी बात यह भी है, कि प्रकाशन करने वाला स्वयम्प्रकाशमान ही हुआ करता है, अर्थात् कारणकी सत्ताके विना कार्यकी सत्ता ही उपपन्न नहीं होती। अतः यह बात सर्वथा असत्य है ॥११॥

दूसरा उदाहरण भी सहेतुक आपको दिखा कर हम समझाते हैं। देखिये—

स्वयम्प्रकाशस्य भानोरन्धकारप्रकाशनात् ॥
जडत्वं स्याद्यदि ततोऽविद्याऽपि जडतां भजेत् ॥१२॥

स्वयंचमकने वाले सूर्यको, अन्धेरेको प्रकाशित करनेसे यदि जडत्व कहा जाए, तब तो अविद्या जड़ हो जाएगी। तात्पर्य यह, कि अन्धेरेको कौन प्रकाशित करता है? सूर्य, अर्थात् अन्धेरेका प्रकाशित होना, यह सूर्यके ऊपर अवलम्बित है। साथ साथ यह बात भी

है, कि सूर्यको देखनेकेलिये अन्धेरेकी आवश्यकता नहीं
इसीलिये सूर्य स्वयम्प्रकाश सिद्ध होता है। एवं
सूर्य अन्धेरेको भी प्रकाशित करता है। तब इसी कारण
यदि उस सूर्यको जड़ ठहराया जाए, तब तो अवि
भी जड़ हो जाएगी। परन्तु सूर्यको कोई भी जड़ न
कहता। यद्यपि वह अन्धेरेका भी प्रकाशक है, तब
अविद्याको जड़ कैसे माना जाए? यदि यह कहो,
अन्धेरेको प्रकाशित करनेकेलिये सूर्यकी कोई आवश्य
कता नहीं? और यह बात है भी ठीक, क्योंकि
के सम्मुख जब अन्धेरा आता ही नहीं, या कभी
सूर्य देखता ही नहीं, या यों कहो, कि उस अन्धेरे
अपना ही रूप दे देता है, तब यह कैसे कि अन्धेरे
प्रकाशित करनेकेलिये सूर्यकी अपेक्षा? हां ठीक है।
युक्तिवाद तो बच्चोंको भी मात कर देगा। क्योंकि
पहली कही हुई बातको, अर्थात् अपनी ही कही
बातको भूल कर फिर प्रश्न करना क्या ठीक है
देखिये यदि आप यह कहोगे, कि अन्धेरेकेलिये सूर्य
कोई आवश्यकता नहीं? तो हम पूछते हैं
'अन्धेरा है' यह बात कैसे ज्ञात हुई? क्योंकि सूर्य

तो आवश्यकता है ही नहीं, तो यह मानना ही पड़ेगा, कि अन्धेरा स्वयं ही लोगोंको दिखाई देता है, अर्थात् स्वयम्प्रकाश है, तो फिर स्वयम्प्रकाशको जड़ कहना यह बात तो बहुत ही विचित्रसी है । सम्मत तो आपको भी नहीं है, क्योंकि, आपने ही यह कहा है, और हम भी कहते हैं, तथा सारे विद्वान् भी इसी बातको कहते रहते हैं, कि स्वयम्प्रकाश चेतन होता है, जड़ नहीं । तब यह विपरीत बात कहनी, इसकेलिये लज्जा होनी चाहिये ॥१२॥

एक बात यह भी है, कि आप विद्याको जो चेतन कह रहे हैं, एवं इसके कारण भी बतलाते हैं, वे भी विचार करने पर अत्यन्त निःसार मालूम होते हैं । अब इस बातको दिखाएंगे सुनिये—

> प्रत्युत स्वप्रकाशस्य स्वात्मनो या प्रकाशिका ॥
> विद्या भवन्मताऽत्यन्तं व्यर्था किं न जडोच्यताम् ॥१३॥

प्रत्युत स्वयं प्रकाशमान स्वात्माको प्रकाशित करने वाली जो आपने मानी हुई विद्या, वह अत्यन्त व्यर्थ है,

वह क्यों न जड हो ? कहिये ? तात्पर्य यह कि, चौ
कारिकामें यह बात कही थी, कि आत्म-प्रकाशक हो
से विद्या चेतन नहीं हो सकती, और पांचवी कारि
में यह बात भी बतलाई है, कि वह अपूर्ण है । अब व
गई थी बात यह, कि अपने आत्म-स्वरूपको जाँ
आत्म-स्वरूप सर्वदा स्वयम्प्रकाश है, उसको कि
प्रकाशान्तरकी आवश्यकता नहीं । इस बातको स
जानते हैं । उसी बातको अब हम समझाएंगे, कि अ
से विरुद्ध यह, कि 'अविद्याकी किसी प्रकारकी
आवश्यकता नहीं है' ऐसा जो आपका कहना है, उस
ठीक विपरीत हम यह कह सकते हैं, कि 'विद्याकी
आवश्यकता नहीं है'। इस बातको थोड़ा सा
प्रकरणकी दशम कारिकामें भी दिखलाया है । फिर
उसी बातको दृढ बनानेकेलि हम यहां कह रहे हैं,
आत्म-स्वरूप तो स्वप्रकाश ही है, यह तो निर्विवाद
अब उसको भी प्रकाशित करनेकेलिये आप जो
मान रहे हैं, पहिले यह बात तो सर्वथा असङ्गत है।
फिर भी हम यह कहते हैं, कि वह विद्या ऐसी

कि जो चमकती हुई को चमकाए, क्या व्यर्थ नहीं है ? यदि व्यर्थ है, तो ऐसी विद्याको, अर्थात् अत्यन्त व्यर्थ विद्याकी सत्ता आप क्यों मान रहे हैं? अच्छा, यदि आपने मान भी ली, अर्थात् वस्तुतः नहीं है, तो फिर उस विद्याको ही जड क्यों न कह डाला जाए ? आपके पास बतलाइये क्या उत्तर है ? ॥ १३ ॥

अब एक बात अन्य भी कहेंगे, थोड़ा ध्यान दे कर सोचिये तथा उत्तर दीजिये । सुनिए—

नास्ति विद्या यदि व्यर्था स्वप्रकाश प्रकाशिनी ॥
तदा भानोः प्रकाशाय दीपाऽपेक्षा भवेन्ननु ॥ १४ ॥

यदि स्वयम्प्रकाशको प्रकाशित करने वाली विद्या व्यर्थ नहीं है या नहीं हो सकती, ऐसा ही मान बैठें, तब तो सूर्यको प्रकाशित करनेकेलिये दीपककी आवश्यकता पड़ेगी । तात्पर्य यह कि, जिस प्रकार स्वयं प्रकाश सूर्यको प्रकाशित करनेकेलिये दीपककी आवश्यकता कभी भी नहीं होती, और तभी तो सूर्य स्वयम्प्रकाश कहलाता है, उसी प्रकार स्वयम्प्रकाश

आत्म-स्वरूपको प्रकाशित करनेकेलिये विद्या
आवश्यकता कैसे होगी ? और ऐसे अनावश्यक वि
को भी उसकी आवश्यकता है । ऐसा कहना कहां
युक्ति-युक्त होगा ? तात्पर्य यह है, कि इस प्रकार क
वाले कभी भी प्रामाणिक नहीं कहे जा सकते । क्यों
यह बात सर्वथा विरुद्ध है, कारण, आपके इस क
से विद्या ही जड सिद्ध होती है । अस्तु ॥१४॥

यदि यह कहें कि हम अविद्याको दूसरी प्रका
जड़ सिद्ध करेंगे । इस पर हम यह कहते हैं, कि तुम
हृदयकी बात हम समझ चुके हैं । सुनिये, उस बात
हम ही बतलाए देते हैं—

अविद्याऽभावरूपा चेज्जगदुत्पादिका कथम् ॥
यद्यस्त्यभावतो भावोत्पत्तिरङ्गीकृता न किम् ॥१५॥

यदि अविद्याको अभाव-रूप ही मान लिया
अर्थात् विद्याकी अभाव-स्वरूपिणी ही अविद्या
अविद्या कोई वस्तु-सत् नहीं, तब हम यह पूछते हैं
फिर वह अविद्या जगत्की उत्पन्न करनेवाली कैसे

तथा यदि ऐसी भी बात है, तब तो अभावसे भावकी उत्पत्ति आपने मान ली न ? कि नहीं ? ॥१५॥

भवद्भिरास्तिकैरेवं मतं चेदास्तिका अहो ॥
सन्तु धन्या भवन्तोऽपि बौद्धराद्धान्तपोषकाः ॥१६॥

आस्तिक कहलानेवाले आपने इस तरह यदि मान लिया, तब तो बड़े आश्चर्यकी बात है, कि बौद्धोंके सिद्धान्तको सुदृढ बनानेवाले आप लोग भी धन्य आस्तिक हैं, या धन्य कहलाओ। तात्पर्य यह, कि जगत् है, किंवा नहीं, इसके उत्तरमें आप अन्तमें यही कहेंगे, कि है ही नहीं। पश्चात् कोई पुरुष, यह जब पूछता है, कि यदि जगत् है नहीं, तो प्रतीत क्यों होता है ? तो आप झट यह कह बैठते हैं, कि यह भ्रम है। अर्थात् कल्पित-मात्र इसकी प्रतीति है। इस पर प्रश्न करनेवाला पूछता है, कि यह भ्रम क्यों हुआ ? अर्थात् इसका कारण क्या है। तो शीघ्र आप यह उत्तर देते हैं, कि इसका कारण अविद्या है। ठीक बात है, अब हम इस पर पूछते हैं कि अविद्या क्या है ? तो उस पर आपका कहना है, कि वह अभाव-रूप है, अर्थात् विद्याकी अभाव

रूप है, तात्पर्य यह कि वह सत् नहीं। तब हम पूछते कि जो वस्तु है ही नहीं, वह दूसरे वस्तुको उत्पन्न कि प्रकार करेगी? क्योंकि, वस्तु ही वस्तुको उत्पन्न सकती है। यदि ऐसा न माना जाए, तो आकाश फूलकी मालाएं बनेंगी, ससेके सींगके धनुष होंगे, वांझके लड़के अध्यापकी करेंगे। पर क्या ऐसा देखा भी जाता है? या कहीं सुना भी जाता है? अ ही पण्डित लोग इस बातका उत्तर यही देंगे, कि ऐसा कभी देखा, सुना नहीं जाता। हां, यहां यह श हो सकती है, कि जब आकाश-पुष्प, शश-शृ या वन्ध्या-पुत्र देखे सुने नहीं जाते, तो इनकी चर्चा शास्त्रोंमें क्यों की जाती है? अथच इन शब्दोंमें स कैसे हुआ? हां ठीक है। यह बात तो हमारे मत हानि नहीं पहुंचाती, प्रत्युत आपके ही गले पड़ती है क्योंकि, हमारे मतमें तो यह सब वस्तुएं सत् ही हैं क्योंकि, यदि सत् न हों, तो उनकी प्रतीति ही न होती प्रतीति चाहे "है" रूपसे हो, अथवा "नहीं" रूपसे है प्रतीति, क्योंकि, अभाव-ज्ञानमें प्रतियोगि-ज्ञान

कारणता होती है। हां, एक बात और भी है, चाहे किसीकी काल्पनिक प्रतीति हो, या पारमार्थिक, प्रतीति तो दोनों ही हैं, इस बातको दूसरे प्रकरणमें हम कह चुके हैं। परन्तु आपके पास इसका क्या उत्तर है, कि जो वस्तु है ही नहीं, वह किसी दूसरे वस्तुको उत्पन्न कर सके? अच्छा, यदि ऐसा ही मान लिया जाए, कि अभाव-रूप अविद्या, जगत्को उत्पन्न करती है। तब हम यह कहते हैं, कि फिर आपने अभावसे भावकी उत्पत्ति मान ही तो ली न? क्यों यह बात ठीक है, कि आपने अभावसे भावकी उत्पत्ति मान ली? बड़े आश्चर्यकी बात है, कि ऐसा मानते हुए भी आप आस्तिक बने बैठे हैं। क्योंकि बौद्धोंके सिद्धान्तमें एवं आपके सिद्धान्त-में क्या अन्तर रहा? कारण, बौद्ध भी अभावसे भाव-की उत्पत्ति मानते हैं, ऐसा सुना जाता है। तब उन्हींके अर्थात् बौद्धोंके सिद्धान्तोंके पोपक आप लोग भी अपने आपको आस्तिक मानते हुए, धन्य कहलाएं, वाह!! कैसा आश्चर्य है॥१६॥

हां जी! हम यह नहीं कहते, कि अभावसे भाव-

की उत्पत्ति होती है। किन्तु अविद्या शब्दमें जो "
है, इसका अर्थ हम दूसरा ही करेंगे। तब यह आप
या अनुपपत्ति अनायास ही दूर हो जाती है। हां,
समझ गये, क्या यही कहोगे न, सुनिये हम ही ब
देते हैं—

> विपरीतज्ञानरूपाऽविद्या नाऽभावरूपिणी ॥
> इति चेज्जडता तस्याः सुतरां नैव सिद्ध्यति ॥१७॥

विपरीत ज्ञान जिसका स्वरूप है, ऐसी अविद्या अभा
रूपिणी नहीं, ऐसा यदि मान लें, तब तो अविद्याकी जड
कथमपि नहीं ही सिद्ध हो सकती। तात्पर्य यह,
अविद्या अर्थात् विपरीत-ज्ञान, तथा विद्या अर्थात्
ज्ञान, अर्थात् आत्म-स्वरूपको आत्म-स्वरूपसे देख
इसका नाम विद्या है। एवं आत्म-स्वरूपको जग
से देखना, इसका नाम अविद्या है। एवं च विप
ज्ञानका अर्थ यह नहीं होता, कि वह है ही न
अर्थात् उसका सर्वथा अभाव है, तब यह कैसे
सकते हैं, कि अभावसे भावकी उत्पत्ति मानी?
आप ऐसा कहेंगे, तब तो आगये, आगये आप

सिद्धान्त पर। हमारी बात अब आपको शीघ्र ही अवगत हो जाएगी। देखिये, जब आपने अविद्याको विपरीत ज्ञान मान लिया, तब आप उस विपरीत ज्ञान-को अर्थात् अविद्याको जड़ कैसे सिद्ध कर सकेंगे? उक्त युक्तिसे कथमपि तथा कदाऽपि केवल अविद्याको जड़ सिद्ध करना सम्भव नहीं हो सकता ॥१७॥

पूर्वोक्त बातको हम सिद्धान्तरूपसे थोड़ा सा फिर समझा देते हैं। सुनिये—

परीता विपरीता वा विद्या विद्यातया तु सत् ॥
वैपरीत्यं सौपरीत्यं कल्पितं केवले सति ॥१८॥

सीधी हो, या टेढ़ी, विद्या, विद्या-रूपसे तो सत् ही है। टेढ़ापन या सीधापन केवल सत्के आधारपर कल्पित होता है। तात्पर्य यह कि सीधा ज्ञान कहो, या टेढ़ा ज्ञान, हैं तो दोनों ज्ञान ही। तात्पर्य यह, ज्ञानकी दृष्टिसे देखा जाए, अर्थात् विद्याकी दृष्टिसे देखा जाए तो यह मानना ही पड़ेगा, कि वह विद्या ही है। अर्थात् टेढ़ापन तथा सीधापन, ये दोनों कल्पित किये जाते हैं। और उन कल्पनाओंका आधार कोई वस्तु-सत् है। तथा

वह केवल अर्थात् मयूराण्डरसन्यायसे पूर्ण समरस
अर्थात् उस सत्-वस्तुमें आपेक्षिक 'नहीं', और 'है'
दोनोंके समरस आधारमें, विद्या एवं अविद्या इन दोनों
बीज हैं। तात्पर्य यह, कि कल्पित होनेवाली दोनों वि
तथा अविद्या किसी दृष्टिसे जड एवं किसी दृष्टिसे च
सिद्ध हो जाती हैं। तथा उसका मूल आधार कुछ
समझनेकेलिये, उसको महाविद्या, या महामाया,
पूर्ण-स्वातन्त्र्य, या पूर्ण-चैतन्य कह सकते हैं। क्या
यह आत्मविलास-रूप है। अस्तु ॥१८॥

यहां अन्य भी एक समाधानका प्रकार लोग कि
करते हैं, जिससे विद्याको चेतन अथच अविद्याको
सिद्ध करना चाहते हैं, लीजिये हम उसका भी उ
दिये देते हैं। सुनिये—

> जीवस्य स्वात्मविज्ञानसाहाय्यकरणादसौ ॥
> चेतना कीर्त्यते विद्या इति चेत् स्थूलदृग्भवान् ॥१६॥

जीवको अपने आत्मस्वरूपके अनुभव करने
सहायता करनेके कारण, यह प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली
अर्थात् प्रसिद्ध विद्या चेतन कहनेकेलिये योग्य होती है

यदि ऐसा ही मान लिया जाए, तो हमारा कहना यह है, कि आपकी दृष्टि मोटी है। तात्पर्य यह, कि कोई लोग एक युक्ति-वाद ऐसा भी लड़ाया करते हैं, कि— विद्या-को चेतन कहना ठीक है, कारण, यह विद्या जीवको "मैं कौन हूँ" अर्थात् 'मेरा स्वरूप क्या है ?" तथा "कैसा हूं ?" इस बातका अनुभव करनेकेलिये सहायता पहुंचाती है। इसलिये विद्याको चेतन कहना चाहिये। आपका यह कहना सुनकर हमें यही कहना पड़ता है, कि आपकी दृष्टि मोटी है, सूक्ष्म नहीं। तात्पर्य, स्थूल-दृष्टिसे किया हुआ निर्णय मान्य नहीं हुआ करता ॥१९॥

देखिये हम आपको फिर समझाते हैं, सावधान होकर सुनिये—

> जीवता कुत आयाताऽविद्यया वाऽथ विद्यया॥
> अविद्यया चेत् जीवत्वोल्लासिनी चेतना न किम् ॥२०॥

जीवता कहांसे आई ? अविद्यासे ? कि विद्यासे ? यदि अविद्यासे कहो, तो जीवत्वको उल्लासित करने वाली, अर्थात् अविद्या चेतन न होगी क्या ? तात्पर्य यह, कि पहले आपके कहने पर, हम यह

पूछते हैं, कि जीवको आत्म-स्वरूपका बोध करा
लिये सहायता करनेवाली प्रकट विद्या चेतन क
योग्य है, तथा इसीलिये चेतन कही भी जाती है,
पहला प्रश्न यह है, कि जीव-भाव किससे आय
अविद्यासे ? कि विद्यासे ? साथ साथ यह भी प्रश्न
सकता है, कि जीव-भाव किसको प्राप्त हुआ ? तो प
प्रश्नका उत्तर आप यही तो देंगे, कि जीव-भाव अवि
से आया, विद्यासे नहीं। कारण, अविद्या अ
विपरीत-ज्ञान अर्थात् अपने आपको जीव-रूपसे देख
तथा विद्या अर्थात् सीधा ज्ञान अर्थात् अपने आपको नि
रूपसे देखना, दूसरे प्रश्नका उत्तर आप यही देंगे न,
जीव-भाव अपने आप ही अर्थात् आत्मस्वरूपने ही प्र
किया, तो हम यह कहते हैं, कि उसने अर्थात् आत्म
स्वरूपने जीव-भाव किसके सहारे प्राप्त किया ? इस
आप उत्तर यही तो देंगे, कि अविद्याके सहारे। तब ह
कहते हैं, कि वह अविद्या, जो कि जीव-भावके उद्धा
करनेमें सहायता पहुंचाती है। क्या वह चेतन नहीं क
जाएगी ? अर्थात् चेतन कहना ही पड़ेगा। तब फिर
क्या, कि विद्याको चेतन कहा जाता है, विद्याको

कहनेमात्रसे अविद्याको जड़ कहना सिद्ध नहीं होता । प्रत्युत जब जीव और आत्म-स्वरूप भिन्न हैं ही नहीं, तब उस स्वरूपको सहायता पहुंचाने-वाली एक शक्तिको चेतन कहना, तथा दूसरी को जड कहना, यह कहांका न्याय है ? अस्तु । यहां तक के विवेचनसे यह सिद्ध हो गया, कि एकको केवल जड मानना तथा दूसरेको केवल चेतन मानना, एवं दोनोंकी कल्पितता स्वीकार करना, यह सर्वथा उन्मत्त-प्रलाप-मात्र ही है । अतः विद्या और अविद्या चेतन भी है तथा जड भी हैं ऐसा सिद्ध होता है । तात्पर्य यह, कि कल्पित-मात्र जड भी है, और चेतन भी ॥२०॥

अब हमारे मतमें दोष क्यों नहीं आता ? तथा वह मत क्या है ? इस बातका विवेचन करते हुए धीरे धीरे प्रकरण-समाप्ति की ओर बढ़ेंगे । सुनिये —

अस्मन्मते त्वविद्या वा विद्या वा नास्ति तत्त्वतः ॥
महाविद्या स्वात्मरूपा समुल्लसति सर्वतः ॥२१ ॥

हमारे मतमें तो अविद्या या विद्या वस्तुतः नहीं हैं,

अतः हम यह कहते हैं, कि अपने आप स्वरूप-भूत सर्व तथा सर्व-प्रकार महाविद्या ही चमक रही है ॥२१॥

अधिक क्या कहें, यह सिद्धान्त है, सुनिए —

कल्पकः कल्पना क्लृप्तं स्वात्मोल्लासैकमात्रकम् ॥
सच्चिदानन्दस्वरूपं ततोऽन्यन्नास्ति किञ्चन ॥ २२ ॥

कल्पक कल्पना तथा क्लृप्त अपने आत्म-स्वरूप एकमात्र उल्लास है। तथा यह सब सच्चिदानन्द-स्वरू है। इससे अन्य कुछ भी नहीं है। तात्पर्य, हमारे मत कोई भी दोष आ नहीं सकता, परन्तु यह भी नहीं, कि दोषके न आनेसे अपूर्णता रह जाती है, कारण, यहां यदि दोष आएगा भी, तो भी गुण-रूप ही हो जाता है यदि रात ही उग जाए, तो क्या फिर वह दिन नहीं हो जाएगी ? हां, हमारे मतमें, विद्या और अविद्या इनकी वस्तुतः सत्ता नहीं है। तात्पर्य यह, कि कल्पितकी वस्तु सत्ता नहीं मानी जाती। अत एव उसको कल्पित कहते हैं। सम्पूर्ण कल्पनाओंका एक-मात्र समरस आधार स्वरूप महाविद्या आत्म-स्वरूपिणी सभी ओरसे तथा सभी प्रकारसे भली भांति अर्थात् अनिर्वचनीय-रूप

चमक रही है। वस्तु-सत् पदार्थको कल्पित द्वैत मान कर समझानेकेलिये वह वस्तु अर्थात विद्या और अविद्या इनका एक-मात्र समरस आधार-स्वरूपको महाविद्या कह दिया है। अन्यथा मौन ही श्रेयष्कर होगा। इस बात-को मङ्गलाचरणमें कह दिया है। पर इससे यह नहीं कि उसका वर्णन कुछ भी न हो सके। तात्पर्य केवल इतना ही है, कि पूर्ण-रूपसे स्वरूप-निर्णय, वाणीके विषयमें आ नहीं सकता। इसलिये हम यह कह रहे हैं, कि कल्पक अर्थात् कल्पना करनेवाला, कल्पना अर्थात् कल्पकका व्यापार तथा क्लृप्त अर्थात् जिसकी कल्पना की गई, ये तीनों भाव अपने आत्म-स्वरूपके एक-मात्र उल्लास-स्वरूप हैं, अर्थात् यह त्रिपुटी वस्तु-सत् नहीं। केवल कल्पित की जाती है। इसीलिये इस त्रिपुटी-स्वरूप अनन्त-कोटि-ब्रह्माण्डको, सच्चिदानन्द-स्वरूप कहते हैं। कारण, इसका कन्द अर्थात् इसका पूर्ण-सम-रस कारण परिपूर्ण स्वातन्त्र्यभूत, मूल आत्म-स्वरूप है। उससे अतिरिक्त दूसरी वस्तु कोई भी नहीं। अर्थात् आत्म-स्वरूपसे अतिरिक्तकी कभी भी शङ्का ही नहीं होती, कारण जो वस्तु कभी होती ही नहीं, उसकी

शङ्का या समाधान नहीं हुआ करता। शङ्का-समाधान तो सद्-वस्तुकेलिये ही हुआ करते हैं। सद्-वस्तु कल्पित हो, अथवा अकल्पित, शङ्का-समाधान उसीकेलिये आएगा। इससे यह न समझना, कि आत्मस्वरूप महामाया स्वरूपसे अवस्थिततामें शङ्का-समाधान नहीं होता, इसलिये उसको असत् कहना। इस बातको पहली कारिकाके निरूपणमें हम सिद्ध कर चुके हैं तथा द्वितीय प्रकरणमें भी सिद्ध कर दिया गया है, कि कुछ कहते न बनने पर भी आत्म-स्वरूपकी अखण्ड सत्ता अक्षुण्ण बनी ही रहती है ॥२२॥

अब महाविद्या-प्रकरणका उपसंहार करते हुए एक बार पुनः उसके अर्थात् महाविद्याके स्वरूपका सिद्धान्त कह देते हैं। सावधान होकर सुनिये—

> सदसद्वर्जिता सैषा सदसद्व्यवहारभूः ॥
> विश्वोत्तीर्णा विश्वमयी स्वात्मरूपा विराजते ॥२३॥

सत् और असत् इनसे वर्जित, वह यह सत् और असत् इन व्यवहारोंकी एक-मात्र अधिष्ठान, विश्वसे, उत्तीर्ण तथा विश्वस्वरूपिणी, इसीलिये अपने आप-रूप, वह महाविद्या विराज रही है। तात्पर्य यह, कि व्यवहार

अर्थात् वह व्यवहार जाग्रत्क हो, स्वाप्न हो, अथवा सौषुप्त हो, तात्पर्य यह, कि सत् तथा असत् ये जो आपेक्षिक परस्पर-विरोधी अत एव परस्पराऽवलम्बित तथा परमार्थतः अवस्तु-भूत कल्पनाएं, जो कि होती हैं, अथवा न होती हैं, उन सम्पूर्ण कल्पनाओंसे वर्जित, अर्थात् अस्पृष्ट अथवा पूर्वोक्त कल्पनाओंकी आत्माऽतिरिक्त-स्वरूपके समान भासित करनेवाली, यहां इस बातका ध्यान अवश्य रखना चाहिये, कि व्यवहारकी सत्ता सुषुप्ति-पर्यन्त किसी न किसी रूपसे अवश्य ही रहती है। जाग्रद्-व्यवहारमें पदार्थोंका अनुसन्धान थोड़ा बहुत प्रायः सभीको होता है। तथा वहां क्रिया-शक्तिकी विकसितता विशेष होती है, वहां तमोगुणका भी उल्लास विशेष रहता है। अत एव उसको स्थूल व्यवहार कह सकते हैं। वहांके दृश्य सत्ताको व्यावहारिक सत्ता कहते हैं। वैसे तो इस जाग्रत्-अवस्थाके पदार्थोंमें, अर्थात् व्यावहारिक प्रतीतिमान पदार्थोंमें भी प्रातिभासिक, अर्थात् स्वाप्न तथा उससे सूक्ष्म अर्थात् अप्रतीयमान पदार्थ-सत्ता, अर्थात् सौषुप्त-पदार्थ-सत्ता यह भी रहती ही है। फिर भी

व्यावहारिक-पदार्थ-सत्ता प्रधान-रूपसे प्रकाशमान हों
कारण, जाग्रदवस्थाके पदार्थोंकी सत्ताको व्याव
कहते हैं। इसी प्रकार स्वाप्न-पदार्थ-सत्ताको र
विशेष होनेसे, अर्थात् ज्ञान-शक्तिका कुछ विकाश
होनेसे, उस स्वाप्न-सत्ताको व्यवहार-सत्ताकी अ
सूक्ष्म होनेसे, अर्थात् व्यवहार-सत्ताकी कारण हो
उसको प्रातिभासिक कहते हैं। परन्तु ठीक देखा
तो यह भी व्यावहारिक सत्ता ही है। परन्तु जाग्र
अपेक्षया सूक्ष्म होनेसे, तथा जाग्रत्की कारण होने
इसको स्वाप्न कहते हैं। स्वाप्न प्रतीत पदार्थ-सत्त
अनुसन्धान पूर्णरूपसे किसी साधन-सम्पन्न पुरुषके
नहीं होता। यद्यपि साधारण पुरुषोंको भी कुछ
हो जाता है। तो भी पूर्णरूपसे न होनेके कारण
व्यावहारिक पुरुष इसको प्रातिभासिक कहा करते
ज्ञानशक्तिका विकास जिन पुरुषोंमें अधिक हुआ ह
है, उनको स्वाप्न सृष्टिका भी अनुसन्धान भली प्र
होता है। ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्तिका ही विकास
है, तथा इच्छा-शक्तिका विकास नहीं है, उन पुरु

सौपुप्त व्यवहार, जाग्रत् एवं स्वप्नका कारण होनेके कारण, उसका अर्थात् सौपुप्त-व्यवहारका अनुसन्धान नहीं होता। उसकेलिये इच्छा-शक्तिका बहुत अधिक विकास चाहिये। वह व्यवहार अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण प्रतीत नहीं होता। वह अवस्था अर्थात् सुषुप्ति-अवस्था सत्त्व-प्रधान है। तथा उस अवस्थामें भी अनु-सन्धान करनेवालोंको सूक्ष्म अर्थात् अति-सूक्ष्म व्यवहार-का अनुसन्धान हो जाता है। एवं ऐसे पुरुषोंको योगि-विशेष कहते हैं। इन तीनों व्यवहारका, या तीनों अव-स्थाओंका, एक-रस महाकारण आधार तुरीया जो कि विशुद्ध सत्त्वरूप है, वहां व्यवहारका अर्थात् सम्पूर्ण जाग्रत्क स्वाप्न तथा सौपुप्त व्यवहारका बीज महाविद्या-रूप ही होता है। तथा वहां इनका कथमपि भेद-भाव नहीं होता। अथच इसी तुरीयाकी पूर्णताको तुरीया-ऽतीता कहते हैं। इसलिये हमने 'सदसद्वर्जिता' ऐसा कहा, साधारण लोगोंको अर्थात् कार्यरूपसे अवस्थित अखिल सृष्टिको, परोक्ष होनेसे 'सा' ऐसा कहा। परन्तु कारणा-ऽवस्थामें अवस्थित वही आत्म-रूपसे अपरोक्ष होनेके

कारण 'एषा' ऐसा कहा। इन्हीं बातोंको दृढ़ बनाने लिये आगे भी थोड़ा सा विवेचन कर देते हैं। सुषुप्ति सत् तथा असत् अर्थात् आपेक्षिक 'है' और 'नहीं' वर्जित, ऐसी होने पर भी सत्-असत् व्यवहारकी सम अधिष्ठान है। अर्थात् जाग्रत्क स्वप्न ये दोनों पद 'है', ऐसे प्रतीत होते हैं, इसीलिये उनको सद्व्यवहार कहते हैं। सौषुप्त पदार्थोंका अनुसन्धान साधारण लोगों को न होनेसे, वे उस व्यवहारको असत् कहते हैं। अतः एव सौषुप्त व्यवहारको असद्व्यवहार कहते हैं। सम व्यवहारोंकी समरस अधिष्ठान-स्वरूप तुरीया है। तुरीयामें कुछ भी नहीं होता। तात्पर्य केवल महा चित् स्वरूप ही रहता है, अर्थात् यहां तुरीया अर्थात् तुरीया- तीत भी समझना। इसीलिये विश्व, अर्थात् सुषुप्ति पर्यन्तसे उत्तीर्ण अर्थात् अतीत। परन्तु यह पूर्ण स्वरूप होनेसे, अर्थात् सच्चिदानन्दकन्द होनेसे, तथा आत्म- विलास-रूप होनेसे, यह त्रिश्वमयी अर्थात् सुषुप्ति स्वप्न एवं जाग्रद्रूप-प्रचुर भी है। कारण यह सम्पूर्ण मिलकर एक अद्वितीय समरस अखण्ड अनिर्वचनीय होने

भी पूर्ण होनेके कारण निर्वचनीय, ऐसी महाविद्या विराजित अर्थात् विचित्र-रूपसे, विशेप-रूपसे, विगत-रूपसे, विवर्त्त-रूपमें, या विकास-रूपसे, अथवा सम्पूर्ण विलास-रूपसे शोभित हो रही है। अर्थात् चिद्रूप है ॥२३॥

यद्यपि जो कुछ कहने योग्य अर्थात् अत्यन्त आवश्यक निरूपण करदिया गया, पुनरपि सम्पूर्ण प्रकरणका सारांश पुनः एक वार कह दिया जाता है। सुनिये—

शिवाऽऽकाराऽपारा भवजलधिसारा गुरुवरा
कृपापारावारा भजदमृतधाराधरवरा ॥
उमाकारोङ्कारा निजसहजसौन्दर्यरमणो
महाविद्या सेयं जयति परमानन्दरमणी ॥२४॥

यह यह अर्थात् परोक्ष तथा अपरोक्ष महाविद्या, जो कि शिवाऽऽकारा है। तथा जिसका कोई पार नहीं है। संसार-रूपी समुद्रमें श्रेष्ठ है, अथवा शिवरूपी समुद्रकी रत्न-भूत, या शिवकी आत्मस्वरूप है। इसीलिये गुरुश्रेष्ठ-रूपिणी है। अथवा अज्ञाननाशिनी है। कृपा की समुद्र है। भक्तोंकेलिये अमृतकी वृष्टि करनेवाली मेघ-

श्रेष्ठ है। जिसको श्रुतियोंमें, उपनिषदोंमें, तथा अन्या
तन्त्र-ग्रन्थोंमें, तथा पुराणोंमें "उमा" ऐसा कहा
अर्थात् उमाका आकार धारण करती है। जो कि
ॐकार है, अर्थात् प्रणव है। अपने स्वाभाविक सौन्द
रममाण रहती है। तथा जो परशिव परमेश्वरके आन
देनेवाली, अर्थात् तत्त्व-स्वरूपिणी परिपूर्ण महाविद्या
वह सर्वोत्कर्षसे है, अर्थात् उसका ही जयजयकार है॥

महाविद्यासुस्वरूपं महाविद्यास्वरूपिणा ॥
निरूपितं महाविद्याऽऽनन्दोल्लासाय केवलम्॥ २५॥

महाविद्याका सुन्दर स्वरूप, महाविद्या-स्वरू
केवल महाविद्याके आनन्दके उल्लासकेलिये निरू
किया गया। तात्पर्य यह, कि महाविद्याके स्वरूप
भली भांति जिनको ज्ञान करना हो, वे महावि
स्वरूपभूत, कारण, महाविद्याका स्वरूप, महावि
सिवा कौन जान सकता है ? अतः जो कोई उ
अर्थात् आत्मस्वरूप महाविद्याके, अनुग्रहसे स्वरू
जान ले, तो फिर वह महाविद्या-स्वरूप ही तो होगा
अतः यह कहा कि महाविद्या-स्वरूपीने ही, इस

निरूपण किया है। तथा वह भी केवल अपने आत्म-विलासस्वरूप महाविद्याके आनन्दोल्लासकेलिये निरूपित किया गया। तात्पर्य यह, कि महाविद्याका स्वरूप निरूपण करनेवाला, तथा महाविद्याका स्वरूप और उसका प्रयोजन, यह सब एक अद्वितीय केवल महा-विद्या ही है। इसीलिये इसका पढ़नेवाले भी महाविद्या-स्वरूप ही हैं। तब यह एक अलौकिक ही चमत्कार है, तथा इसीको आत्मविलास कहते हैं ॥२५॥

इति श्री-महामहिम-आचार्य-श्रीमदमृतवाग्भवसमुल्लासिते
स्वोपज्ञ 'सुन्दरी' इत्याख्यराष्ट्रभाषाव्याख्यासमुल्लासिते
आत्मविलासे महाविद्यास्वरूपनिरूपणं
नाम चतुर्थं प्रकरणम् ।

——:o:——



॥ श्रीः ॥

पञ्चमं प्रकरणम् ।

नैर्मल्यनिरूपणम् ।

पूर्व प्रकरणमें विद्या तथा अविद्या इनके का[illegible] सत्ताको मान कर जडाऽजडताका निरूपण करते [illegible] वस्तु-सत् उनका स्वरूप महाविद्याका निरूपण कर दि[illegible] गया है। प्रसङ्गसे यह भी कह दिया, कि महावि[illegible] पूर्णस्वातन्त्र्य, पूर्णचैतन्य, यह सब एक ही है। [illegible] इनका अनेक रूपोंसे प्रकाशित होना, यही आत्मवि[illegible] है। साथ साथ यह भी कह दिया गया, कि सम्[illegible] जागतिक जडाऽजडविभाग-व्यवहारका एक-मात्र सम[illegible] अधिष्ठान महाविद्या है। इसी प्रसङ्गसे यहां एक [illegible] शङ्का होती है, कि यह सम्पूर्ण व्यवहार पाप-पुण्य[illegible] है, अत एव कोई सुखी, तो कोई दुःखी देख पड़ता [illegible] तथा इसीलिये पण्डितलोग किसीको बद्ध, तो किसी[illegible] मुमुक्षु, किसीको साधक, तो किसीको सिद्ध ठहराते [illegible]

हैं । इसका कारण क्या ? एवं इसका उद्देश क्या ? यदि परमात्म-स्वरूप सर्वदा एकरस ही है, तो फिर ये बन्ध, मोक्ष, पाप, पुण्य, कहांसे आये ? एवं कैसे आये ? तथा कौन बद्ध हुआ ? यह शङ्का होती है । यद्यपि इन प्रश्नोंका उत्तर पहले तीन प्रकरणोंमें सूक्ष्म-दृष्टिसे देखने-वाले बुद्धिमानोंको मिल जाएगा, फिर भी सर्वसाधारण लोगोंको सम्यक् इन बातोंका उत्तर मिलना उन प्रकरणोंमें कठिनसा ही जान पड़ेगा । अतः उन्हीं पाप-पुण्यों-के, तथा उनके उत्पादक कर्मोंके विषयमें सिद्धान्त सुसङ्गत कौनसा है ? यह इस प्रकरणमें कहा जाएगा । साथ साथ यह भी कह दिया जाएगा, कि वस्तुतः निर्मलता क्या है ? अब प्रकरण-प्रारम्भ मङ्गलाचरण तथा सम्पूर्ण प्रकरणका बीजभूत सिद्धान्त दिखलाया जाता है । सुनिये—

> सम्पूर्णमलनैर्मूल्यशासनोल्लासनोदितः ॥
> मलाऽस्पृष्टो विजयते परमः परमेश्वरः ॥१॥

सम्पूर्ण मलोंका निर्मूलन करनेवाले शास्त्रोंके प्रकाशनसे उगा हुआ ज्ञात होता है, अथवा सम्पूर्ण मलोंके

निर्मूलन-स्वरूप विधि-विधानोंके प्रकाशका प्रेरक, अथवा सम्पूर्ण धर्माऽधर्मोंके निर्मूलन करनेवाले शास्त्रोंका प्रकाश स्वरूप वर्णित है। वह परम कल्याणस्वरूप सम्पूर्ण-शक्ति स्वरूप परशिव परमात्मा मलोंसे अत्यन्त अपूर्व विशेषरूपसे या विचित्र रूपसे, तात्पर्य यह, कि सर्वोत्कर्पसे उत्कृष्ट हो रहा है, अर्थात् सर्वथा तथा सर्व उसका विजय है। तात्पर्य यह, कि सम्पूर्ण मलोंका अर्थात् मलोंके जितने भी प्रकार हो सकते हैं, उन सम्पूर्ण मलोंका, जैसे कि साधारण तौर पर मलके तीन भेद होते हैं। पुनः ये तीन ही अन्याऽन्य कल्पित तारतम्यसे अनन्त प्रकारके हो जाते हैं। साधारण तौर हम उन तीनोंको आरोह-क्रमसे स्थूल सूक्ष्म एवं कारण ये नाम देते हैं। इनमें स्थूल-मलको अन्य लोग 'कार्म' सूक्ष्मको 'मायीय' तथा कारणको 'आणव' कहा करते हैं। इस बातका विवेचन हम आगे करेंगे। यहां पर इतना ही समझ रखिये, कि यह मल आत्म-स्वरूप ही होने पर भी कल्पित अनात्म-भाव मान कर उसको मल कहने का व्यवहार सा पड़ गया है। इन्हीं सम्पूर्ण मलोंका

पूर्णरूपसे निर्मूलन करने वाले, अर्थात् इन मलोंके निर्वाण करनेका उपाय जिनमें बतलाया गया है, ऐसे शास्त्रोंके चमकानेसे, जो उगा हुआ सा जान पड़ता है। तात्पर्य यह, कि उदय अस्तङ्गतका हुआ करता है, परन्तु जिसका कभी अस्त हुआ ही नहीं, उसका उदय कैसा ? इसलिये ऐसा कहा कि उगा हुआ सा ज्ञात होता है। तात्पर्य यह, कि मल-स्वरूप पुण्य, तथा, पाप इन दोनोंके निर्मूलन, अर्थात् पूर्ण रूपसे मिटानेका उपाय जिनमें बतलाया गया है, ऐसे शास्त्रोंका प्रकाशन भी जिसने किया, अर्थात् उसी परमात्माने पुण्य-पापोंकी कल्पना भी की है, तथा उनको निर्मूलन करनेवाले शास्त्रोंका प्रकाशन भी किया, इससे ज्ञात होता है, मानों उसका अस्त हो गया था, सो अब उदय हो गया, मेघाऽऽच्छन्न सूर्यको मेघोंके हट जाने पर जैसे हम कहते हैं, कि ओ हो ! ! अब सूर्य प्रकाशित हुआ, परन्तु वास्तवमें देखा जाए, तो सूर्य पहले भी वैसा ही प्रकाशित था, जैसा कि अब है, बीचमें मेघोंके कल्पनाके कारण अनुदितसा जान पड़ता है। अथवा जैसे पृथिवीके घूमनेके

कारण, जिस ओर पृथिवी तथा सूर्यका साम्मुख्य हो
है, उस ओर सूर्य उदित हुआ, ऐसा कहा जाता
परन्तु ठीक देखा जाए, तो सूर्यका उदय कुछ नया नहीं
वह पहलेसे ही उदित था। इसीप्रकार आत्मस्वरूप उ
हुआसा ज्ञात होता है। इसका कारण, उसके अपने
की मलोंकी कल्पना, तथा उनके निर्मूलनकी कल्पना
हुआ करती है। अथवा यों भी कह सकते हैं,
सम्पूर्ण मलोंके मिटानेवाले विधि-विधानोंके उल्लासन
जो प्रेरक है। तात्पर्य यह, कि मलोंका निर्मूलन
किया जाता है, उन विधि-विधानोंके प्रकाशका भी
प्रेरक है, अर्थात् पाप-पुण्यादिके सम्पादक तथा वि
सक जो कर्म, अकर्म एवं विकर्म, उन सबोंके प्रका
भी जो प्रेरक है, अर्थात् इन सबोंका जो एक का
है; अथवा यों कहिये, कि सम्पूर्ण मलोंके अर्थात्
ऽधर्मादि समस्त स्थूल सूक्ष्म कारणोंके, उदय एवं
अर्थात् सम्पादन तथा विध्वसन बतलानेवाले शा
प्रकाशरूपसे जो वर्णित है, तात्पर्य यह, कि सम
शास्त्रोंमें तात्पर्य-रूपसे यह कहा गया है, कि स

कर्मकाण्डका, वह कर्मकाण्ड चाहे सूक्ष्म हो, या स्थूल, उन सबोंका, तथा उनके फलोंका जिन शास्त्रोंमें वर्णन है, उन सम्पूर्ण शास्त्रोंमें इस सच्चिदानन्दके प्रकाशका ही वर्णन है। इसलिये भी जो स्वतः सिद्ध है, ऐसा परम कल्याण-स्वरूप सम्पूर्ण प्रकारके ऊंचेसे ऊंचे ऐश्वर्योंसे सम्पन्न वह परमेश्वर सच्चिदानन्दकन्द शम्भु, जो कि किसी भी मलसे तथा कभी भी स्पृष्ट नहीं होता, तात्पर्य यह, कि कल्पित वस्तुकी वस्तु-सत्ता न होनेसे स्पर्श असम्भव ही है। जैसे शश-शृङ्गादिक कल्पित होने मात्रसे ही, अर्थात् उनकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता न होनेसे उनका स्पर्शादिक व्यावहारिक जगत्में किसी प्रकार हो नहीं सकता। वैसेही वस्तु-सत् परमात्म-स्वरूपसे कल्पित मलोंका स्पर्श हो नहीं सकता। ऐसे परशिव परमात्मा-का, विचित्र रूपसे, अर्थात् जिसका कोई विशेष लक्षण नहीं हो सकता, ऐसा जय जयकार है। अर्थात् उसीका सर्वत्र विजय है ॥१॥

पहली कारिकामें यह कहा गया, कि परमेश्वर मलोंसे अर्थात् धर्माऽधर्मादि तथा तज्जनक स्थूल कर्म

तथा धर्माऽधर्मादिजनक स्थूल-कर्मोंके भी जनक, ऽ
सूक्ष्म कर्म उन सभी मलोंसे जो कभी भी स्पृष्ट न
होता, उस प्रभुका विजय है। वहां अब यह प्रश्न हो
है, कि जब उन मलोंका स्पर्श नहीं होता, तो वे म
आए कहांसे ? तथा क्यों आये ? अर्थात् उन मलों
उत्पत्ति क्यों की गई ? एवं उन मलोंसे लाभ अथ
हानि क्या है ? तथा वह कौन हैं ? अर्थात् मल कि
वस्तुसे बनते हैं ? इन सभी प्रश्नोंके उत्तर इस प्रकरण
दिये जाएंगे। यद्यपि ऐसी घोषणा इसी प्रकरणके प्र
कारिकाके अवतरणमें कर दी गई है, तथाऽपि स
प्रतिपत्त्यर्थ यहां कहा है। अब पहले हम इस बातं
कहेंगे, कि मलोंसे नित्य-मुक्त ही, यदि परमेश्वर है, त
बद्धके समान अथवा बद्ध ही जो कोई देखनेमें आ र
है, वह कौन है ? सुनिये—

स्वात्मकल्पितमालिन्यमलिनो जीवतां भजन्॥
मुक्तोऽपि बद्ध इव सन् संसारित्वं प्रपद्यते ॥२॥

अपने आप कल्पित किये हुए मलिनतासे मलि
जीव-भावको पाता हुआ, मुक्त भी बद्धके समान हो

संसारिताको पाता है। तात्पर्य यह, कि वस्तुतः देखा जाए, तो आत्माऽतिरिक्त वस्तुके अत्यन्ताऽभाव होनेसे, अर्थात् अनुभवी पुरुषोंने सम्पूर्ण श्रुति-स्मृत्यादि ग्रन्थ तथा परम प्रमाण स्वाऽनुभवके द्वारा यह जान लिया है, अर्थात् निश्चित कर दिया है, कि आत्मस्वरूपाऽतिरिक्त वस्तुकी शङ्का ही नहीं हो सकती, तो पुनः उसका होना या न होना इसका सम्भव ही नहीं। जिसका होना या न होना प्रतीत होता है, एवं जिसकी चर्चा की जाती है, वह वस्तु भास-मात्र ही क्यों न हो, फिर भी वह आत्म-वस्तु ही है। इस कारण मल भी आत्म-स्वरूप ही है। परन्तु जैसा घड़ा या शराव वस्तुतः मिट्टी होने पर भी अपने व्यावहारिक आनन्दकेलिये, उसको मिट्टी न कह कर घड़ा, शराव आदि आदि नामोंसे या रूपोंसे ही बोध करते हैं, एवं कराते भी हैं। तात्पर्य यह, कि व्यवहारमें सद्-वस्तुको, अर्थात् अप्रकटभाव या कारणरूपको कहिये, छिपाना ही पड़ता है। असत् वस्तुओंसे ही, अर्थात् प्रकट भावसे ही, या कार्यरूपसे ही कहिये, काम लिया जाता है। इसका कारण एक यह भी है, कि यदि व्यवहारमें

भी वस्तु-सत्ताको प्रकट कर दिया जाए, तो व्यवहार ही मिट जाएगा। जैसे कुण्डलों को संदूकमें रख कर कोई बेचनेवाला ग्राहक को यदि यह न कहेगा, कि मेरे पास कुण्डल हैं, तो कुण्डलाऽऽकार सोनेको खरीदनेवाले क्या समझेंगे? या क्योंकर खरीदेंगे? फिर उस बेचनेवालेके हाथ पैसे भी क्योंकर लगेंगे? क्योंकि, विक्रेताने तो ग्राहकके पूछने पर भी यह कहना, कि मेरे पास सोना है, कुण्डल तो कहना ही नहीं, पर ग्राहकको तो कुण्डल चाहियें, अतः ऐसी स्थितिमें जगत्-व्यवहार चलता नहीं। अस्तु। तात्पर्य यह, कि व्यवहार सम्पूर्ण अनेकतापर निर्भर है। तथा इस अनेकताका मूल-कारण मल है। तथा वह मूलकारण भी व्यवहारसे पृथक् नहीं एवं आत्म-स्वरूपसे भी पृथक् नहीं, ऐसा होनेपर भी अपने आप आत्मदेवने जब एक नई कल्पना मल-रूपसे की, तब उसी कल्पित मालिन्यसे मलिन होता है, तथा जैसे सोनेकी आत्मभूत शक्ति कुण्डलका रूप धारण कर लेनेपर, ग्राहककी दृष्टिमें, या पहननेवालोंकी दृष्टिमें वह कुण्डल दिखाई देती है, अथच सोना उसको नहीं कहा जाता, तथाऽपि सुवर्णत्व उसका नष्ट नहीं होता।

किन्तु उसका विशेष उपयोग नहीं किया जाता है। ऐसे ही जब आत्मस्वरूप मलिनताकी कल्पना अपने आपपर कल्पित कर लेता है, तब यह मलिन हो जाता है, अर्थात् व्यवहारमें, यह अन्तः शुद्ध होने पर भी मलिन माना जाता है, अत एव पुनः इस मलिनको ही जीव कहनेकी रीति सी हो जाती है। जीवके अर्थ यहां मनुष्य या चींटि नहीं हैं, किन्तु शिवसे लेकर पृथिवी-पर्यन्त छत्तीसों तत्त्व एवं उनके अन्तर्भूत समस्त विकार समझना। अनन्तर ऐसे जीव-भावको पाता हुआ यह प्रभु परमेश्वर, उस स्थितिमें भी मुक्त होनेपर भी बद्धके समान दिखाई देता है। अर्थात् अपने आपको बद्ध-रूपसे दिखाता है, तथा देखता भी स्वयं ही है, इस बातको न भूलना चाहिये। अनन्तर स्वतः सिद्ध मुक्त भी यह बद्धके समान होता हुआ संसारी बनता है। तात्पर्य यह, कि जैसे मिट्टी, घड़ा होने पर, या शराब होनेपर, अधिक क्या, जितने भी रूप मिट्टीके हो सकते हैं, उतने समस्त रूपोंको मिट्टी अपने आप पर दिखाती हुई भी कोई हानि नहीं उठाती, तथा उस व्यावहारिक आनन्दको, जिसमें कि आपेक्षिक

सुख, अथच दुःख ये दोनों भी अन्तर्भूत हो जां
उठाती है। कारण, स्वयं परमानन्द-स्वरूप है। सबं
ही इस परमेश्वरकी मलिनता अर्थात् बद्ध-भाव या
भाव कहो, बात एक ही है, या संसारी कहलो, हो जा
तात्पर्य, कि यह स्वयं प्रभु है, अर्थात् पूर्ण स्वतन्त्र
यह अपनी कल्पनासे अपने आपमें सब कुछ होता
भी न होनेके समान, या कुछ भी न होता हुआ
हुएके समान है ॥२॥

इसी बातको अब थोड़ा विस्तृतरूपसे समझ
सुनिये—

> संसारित्वं प्रपन्नोऽयं मलानां तारतम्यतः।
> शिवादिक्षितिपर्यन्तसोपानैरवरोहति ॥ ३ ॥

संसारिताको प्राप्त हुआ हुआ यह, मलोंके तारत
शिवसे लेकर पृथिवी-पर्यन्त सीढ़ियोंसे उतर आत
तात्पर्य यह, कि जब यह सर्वदा प्रकट रहनेवाला
अपने आपको संसारी-रूपसे प्रसिद्ध जानता है
करता है, अर्थात् संसारी-भावको शरण हो जा
तब फिर इसको सारा काम काज अर्थात् अनन्त

विश्वका व्यवहार करनेकेलिये नीचेसे ऊपर तथा ऊपरसे नीचे आना जाना पड़ता है। यहां विचित्र बात तो यह है, कि ऊपरसे नीचे आनेके लिये सीढ़ियां भी यह स्वयं ही बन जाता है। तथा इनसे उतर भी स्वयं ही आता है। यह बात सम्यक् समझमें आनेकेलिये हम एक आपको उदाहरण देते हैं— समझिये, कि एक मन्दिर सोनेका बनाया, जिसका ऊपरले शिखरके चोटीसे लेकर उस मन्दिरकी नींव तक सारा ही सोनेका है। एवं उसमें ऊपरसे नीचे आनेकेलिये सीढ़ियां भी सोनेकी ही हैं। सोनेके सिवा अन्य कुछ भी नहीं है। अब सोनेका ही पुतला यदि ऊपरसे नीचे आए उतरते हुए, तो क्या हम यह नहीं कह सकते ? कि सोना ही अपने आत्म-स्वरूप सीढ़ियोंसे उतर रहा है ? बस ऐसे ही यहां भी समझ लीजिये। गुरुशुश्रुपासे आत्मस्वरूपके वास्तवताको अनुभूत कर लेनेसे यह बात प्रकट हो जाएगी। पश्चात् यह ज्ञात हो जाएगा, कि सम्पूर्णतत्त्व अर्थात् पदार्थ, जो कि एककी अपेक्षया चेतन एवं जड हैं, वे परस्पर ऊंच-नीच-भावसे सीढ़ियोंके समान समझे जाते हैं। वे सब परमेश्वर-स्वरूप ही हैं। उनसे उतरने वाला भी वही है,

अब यह देखना है, कि साधारण तौर पर समझ
लिये कैसे विभाग हो सकते हैं ? अर्थात् इन सीढ़ि
व्यवहारमें क्या कहते हैं ? अथच ये सीढियां कितनी
तथा इनमें अंतर क्या है ? ठीक है, सुनिये— अ
इनमें यह है, कि जिसमें स्थूल मल, अर्थात् मलकी स्
ता अधिक हो, अर्थात् विकसित हो, वह निचली सी
तथा जिसमें मलका विकास न्यून हो, अर्थात् वस्तु
अर्थात् आत्मस्वरूपकी सत्ता विशेष प्रकट हो,
ऊपरीली सीढि, यही मलोंका तारतम्य है। तथा
सीढियां किसीने सात, किसीने सोलह, तो कि
पच्चीस, छब्बीस, एवं किसीने इकत्तीस मानी हैं। ह
सिद्धसम्प्रदायाऽनुसार छत्तीस मानी हैं। बात म
एक ही है ! इसमें न्यून या अधिक माननेसे, वा
माननेसे कोई हानि नहीं। कारण वस्तु-सत् एक ही
अस्तु।

ये छत्तीस तत्त्व या सीढियां अवरोह-क्रमसे
सुनिये— १ शिव, २ शक्ति, ३ सदाशिव, ४ ई
५ शुद्धविद्या, ६ माया, ७ काल, ८ कला, ९ वि

१० राग, ११ विद्या, १२ पुरुष, १३ प्रकृति, १४ महत् , १५ अहङ्कार, १६ बुद्धि, १७ शब्दतन्मात्र, १८ स्पर्शतन्मात्र १९ रूपतन्मात्र २० रसतन्मात्र २१ गन्धतन्मात्र २२ श्रोत्र २३ त्वक् २४ चक्षु २५ रसना २६ घ्राण २७ वाणी २८ पाणि २९ पाद ३० पायु ३१ उपस्थ ३२ आकाश ३३ वायु ३४ तेज ३५ जल ३६ पृथिवी। इनमें आरोह-क्रमसे पृथिवीसे माया पर्यन्त आत्मतत्त्व शुद्धविद्यासे सदाशिवपर्यन्त विद्यातत्त्व, शक्ति तथा शिव ये दोनों मिल कर शिव-तत्त्व, तथा समरस सम्पूर्ण तुरीय तत्त्व कहलाता है। इस विषयमें अधिक नहीं लिखा जाएगा। कारण, सिद्धसम्प्रदायका रहस्य गुरुमुखसे ही जानना चाहिये। इस प्रकार ये छत्तीस तत्त्व ही छत्तीस सीढ़ियां हैं। इन सभोंमें समरस रहनेवाली आत्मविलास-स्वरूप पूर्ण-स्वातन्त्र्य-शक्ति, जिसमें कि ये सारे तत्त्व कल्पित होते हैं, वह स्वयं सैंतीसवां कहो या न कहो, पर समरस, मुक्त होने पर भी इन कल्पनाओं से बद्ध अपने आप ही उतर आता है। उतरने पर भी इसका अपना लाभ ही होता है, हानि नहीं। अस्तु ॥३॥

यहाँ यह शङ्का होती है, कि जब हम देखते हैं कि संसारी सुख भी तथा दुःख भी दोनोंको ही भोगते हैं, अत एव वे कभी सुखी तो कभी दुःखी होते हैं, साथ साथ एक यह भी बात है, कि जैसे कोई पुरुष स्वयं अकेला होते हुए भी तथा स्वतन्त्र होते हुए भी अपनी ही इच्छा से विवाह आदि करके पुत्रादि प्रपौत्र पर्यन्त, यदि कोई बहुत दीर्घ-आयु हो तो उनके भी लड़कों तक अपना परिवार स्वयं ही उत्पन्न करके तथा धनादि सङ्ग्रह करता हुआ पूरा संसारी बनकर फिर फंस जाता है, अनन्तर उसमेंसे छूटता हुआ दिखाई नहीं देता, यदि यह भी मान लिया जाए। कि किसी जन्मान्तर में छूट ही जाता है, तो भी इस बातको तो अवश्य ही मानना पड़ेगा, कि वह परतन्त्र है। इस प्रकार यह प्रभु सम्पूर्ण तत्त्वोंके रूपसे, या तत्त्वरूपी सीढियोंसे उतर आकर भी फंसता नहीं। सुनिये—

स्वविलासेनाऽवरूढ आरुरुक्षुः स्वयेच्छया॥
आरोहते सदाऽऽनन्दो नैर्मल्योल्लासपण्डितः॥ ४॥

अपने विलाससे उतरा हुआ, अपनी इच्छासे चढ़नेकी

इच्छा करने वाला सर्वदा आनन्द-स्वरूप निर्मलताके उल्लासित करनेमें, अथवा निर्मलताके प्रकाशसे जो बहुत चतुर है, वह ऊपर भी चढ़ जाता है, तात्पर्य यह, कि जीव-भूत यह प्रभु सर्वदा आनन्द-स्वरूप होनेके कारण जीव-भाव भी आनन्दकेलिये ही लेता है, यह बात सिद्ध ही है, जीव-भावमें आनेकेलिये अर्थात् ऊपरसे नीचे उतरनेमें यह स्वतन्त्र ही है, कारण, इसका स्वरूप ही विलास है, तब आनन्दी पुरुषके समान कभी ऊपर तो कभी नीचे, जैसा चाहे वैसा तथा जब चाहे तब, यह आनन्द करता है, इसमें रुकावट करनेवाला दूसरा कोई भी आज पर्यन्त न उत्पन्न हुआ, न होनेकी आशा है, न इस समय है, अतः यह किसी साधारण या किसी चक्रवर्त्ती राजाके समान भी परतन्त्र नहीं, अतः चढ़ने में भी यह पूर्ण स्वतन्त्र है, अत एव अपनी ही इच्छासे यह ऊपर भी चढ़ जाता है, इसमें आश्चर्य ही क्या ? कारण, निर्मलताके प्रकाशित करने में, यह बड़ा ही चतुर है, तात्पर्य यह, जो जो इसका स्वरूप निर्मल है, वह वह ऊपरले श्रेणीका तथा जो जो समल है,

वह वह निचले श्रेणीका, तथा निर्मलताके प्रकाशसे
पण्डित कहलाता है। तात्पर्य यह, कि यह सम्पूर्ण व्यव
जो कि आपेक्षिक समल निर्मल भावोंसे भरा हुआ
उन सभोंमें एक अनुस्यूत चतुराई बस इसीकी है,
समझ लीजिये। अत एव दुःखका नाममात्र भी नहीं
समझाने के तौर पर हमने यह गृहस्थका उदाह
दिया है, परन्तु वह गृहस्थ भी एक उस प्रभुका
अंश है, अर्थात् कल्पनामात्र है, तात्पर्य यह,
परमात्माके सिवा अन्य कोई वस्तु नहीं है, इस बात
कभी भी न भूलना चाहिये, नहीं तो कुण्डलका मू
मांगने वाले कुण्डल-विक्रेता पुरुषके समान सुवर्णमात्र
मूल्य मिलने पर भी कुण्डलका मूल्य न मिलने
दुःखी होना पड़ेगा ॥४॥

इसी बातको व्यावहारिक उदाहरणों से समझाते
सुनिये—

> कृत्रिमान्मलिनोभावाज्जातु हि मलिनीकृतम् ॥
> नैसर्गिकं सुनैर्मल्यं स्वीयं स्वा मा समुज्झति ॥ ५ ॥

बनावटी मलिनतासे मलिन हुआ हुआ, स्वाभा

शुद्ध निर्मलताको अपने आप यह आत्मस्वरूप क्या कभी भी छोड़ता है? नहीं। कारण, यह उसका अपना ही जो ठहरा, अपनेको अर्थात् अपने आपको कोई कभी कहीं भी खो सकता है ? अर्थात् नहीं, तात्पर्य यह, कि यह व्यवहार अर्थात् मालिन्य थोड़ी चिरके लिये आत्म-स्वरूपको मलिनके समान तो अवश्य करता है, परन्तु ऐसा होने पर भी आत्म-स्वरूप अपने स्वाभाविक पूर्ण निर्मलताको नहीं छोड़ता, कारण वह दूसरी वस्तु नहीं है, कि जो छोडी जाए, या ली जाए, वह कल्पित भी नहीं है, कि उसको मिटा दिया जाए ॥५॥

जैसे कि देखिये

यथाऽऽकाशो नीलनीलैर्मेघैर्नीलीकृतोऽपि सन् ॥
मेघाऽपाये पुनः स्वच्छस्तद्वदात्माऽपि निर्मलः ॥ ६ ॥

जैसे आकाश नीले नीले मेघोंसे नीला देखा जाता है, परन्तु पीछे मेघोंके हट जाने पर अत्यन्त शोभित स्वच्छ हो जाता है। एवमेव आत्मा भी निर्मल है। तात्पर्य यह, कि मेघोंके कालेपनसे आकाशको भी थोड़ा

चिर कालापन आ जाता है। परन्तु आकाश वस्तुतः देखा जाए, तो उस समय भी काला नहीं था, पीछे तो अर्थात् मेघोंके हट जाने पर आकाशको स्वच्छ कहने लगे। वास्तवमें यह इसकी स्वच्छता, जो कि पहलेसे ही वर्तमान है, वही प्रकट सी हुई। वस्तुतः स्वच्छता तो सर्वदा ही प्रकट हुआ करती है। आत्मा भी जब कल्पित मलिनतासे ढँका हुआ सा जान पड़ता है, तब उसको शिव शक्ति आदि व्यवहारसे समझा, सुना, या कहा जाता है, अन्यथा पूर्ण निर्मल वह न कुछ समझमें आता है, अर्थात् वह ज्ञानका विषय नहीं होता, तथा शब्दका विषय भी नहीं हो सकता। ऐसी स्थितिमें सुननेमें या कहनेमें आना, कैसे हो सकता है ? ऐसेको भी यदि कहना ही है, तो निर्मल ऐसा शास्त्रोंमें कहा है ॥६॥

उक्त उदाहरणमें आकाशपर मेघ आने पर आकाश का बोध नहीं होता, कारण आकाश निर्मल होने पर भी अर्थात् उस समय भी आकाशकी खोज करने पर भी यह नहीं मिलता। तात्पर्य यह, कि आकाश प्रत्यक्ष-सिद्ध अर्थात् प्रत्यक्ष-प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता, किन्तु अनुमान

से आकाश है, ऐसा ज्ञात होता है। परन्तु आत्म-स्वरूप सम्पूर्ण प्रमाणोंसे अगम्य होने पर भी सम्पूर्ण प्रमाणोंसे गम्य भी होता है। इस बातको दिखानेकेलिये हम दूसरा दृष्टान्त देते हैं। सुनिये—

जपाकुसुमसान्निध्यमात्रतो लोहितीकृतः ॥
सहजां स्वच्छतां जातु नोज्झति स्फटिकोपलः ॥ ७ ॥

उढौरके फूलके समीप होने-भरसे ही लाल हुआ हुआ स्फटिक-मणि अपनी स्वाभाविक निर्मलताको कभी भी नहीं छोड़ता। तात्पर्य यह, कि उढौरका फूल लाल रङ्गका होता है, स्फटिक-नामका मणि अत्यन्त श्वेत अर्थात् निर्मल होता है। इसी कारण उढौरका फूल, स्फटिकके केवल समीप ही रख देनेसे स्फटिक लाल हो जाता है। यद्यपि स्फटिकके साथ पुष्पका कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता है, फिर भी स्फटिक पूरे लाल रङ्गका ही दिखाई देता है। किन्तु वैसा दिखाई देनेपर भी अपनी स्वाभाविक निर्मलताको वह कभी भी नहीं छोड़ता। इस बातको प्रत्यक्ष ही अनुभव करके देख सकते हैं। कारण, स्फटिक-मणिको अपना रङ्ग विशेष कोई भी नहीं है।

केवल अत्यन्त शुद्ध अर्थात् निर्मल वर्ण है। जपा-कु
तो उपलक्षण-मात्र है। तात्पर्य यह, कि निर्मल वस्
सम्मुख किसी भी रंगकी दूसरी वस्तु आए, उस स
वह उसी रंगकी दिखाई देगी, जिस समय वह दूस
वस्तु हटा दी जाए, तब पुनरपि वह ज्योंकी त्
ही रहती है। तात्पर्य यह, कि आत्म-स्वरूप अत्य
निर्मल है। तथा वह पूर्ण चिद्रूप होनेसे, तथा पूर्ण स्व
होनेसे, सम्पूर्ण कल्पनाओंका एक-मात्र समरस अ
ष्ठान है। अत एव नाना प्रकारकी कल्पित मलिनताओं
अपने आपको मलिन करता हुआ, देखता हुआ,
समझता हुआ ही समझो, सर्वदा स्वभाव-भूत नि
लताको कभी भी नहीं छोड़ता ॥७॥

उक्त उदाहरणमें जपा-कुसुम तथा स्फटिक-म
दोनों संयुक्त नहीं होते। इस कारण मणिके ल
होने पर भी हम यह कह सकते हैं, कि उसको लाल
अर्थात् लाल-पुष्पका स्पर्श ही नहीं होता। अतः म
यदि निर्मल ही रहे तो क्या आश्चर्य है? परन्तु आ

स्वरूपका तथा कल्पनाओंका यदि कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध है, वह तो मानना ही पड़ता है, तब कारण-रूप जो आत्म-स्वरूप उससे कार्य-रूप जो कल्पना है, अर्थात् कल्पित मल, उसके साथ स्पर्श तो होना ही है, तो क्या वहां भी वह अस्पृष्ट ही रहता है ? जपा-पुष्प तथा स्फटिकके समान ये दोनों पदार्थ, अर्थात् आत्म-स्वरूप तथा कल्पित मल, इनका पार्थक्य हो नहीं सकता, अतः मलोंके साथ सम्बन्ध होने पर आत्म-स्वरूप निर्मल नहीं रह सकता। इस प्रकार वादीकी शङ्काका उत्तर भी सुनिये—

यैरेव किरणैः सूर्यो गाङ्गमम्बु स्पृशत्यहो॥
विष्ठामपि स्पृशंस्तैस्तु स्वप्रायत्यं जहाति किम्॥ ८॥

जिन ही किरणोंसे सूर्य गङ्गाके जलको छूता है, उनही किरणोंसे विष्ठाको भी छूता हुआ सूर्य अपनी पवित्रताको क्या छोड़ता है ? कैसा आश्चर्य है ?? तात्पर्य यह कि सूर्य तथा उनके किरण, इनका तो संयोग-सम्बन्ध नहीं, किन्तु इसको समवाय-सम्बन्ध मानना पड़ेगा। कारण किरण गुण हैं, जो कि कार्य हैं, तथा

सूर्य द्रव्य है, जो कि कारण है। ऐसा होने पर भी जि
किरणोंसे सूर्य गङ्गाजल जैसे अत्यन्त निर्मल वस्
स्पर्श करता है, उन ही किरणोंसे विष्ठा जैसी अत
अपवित्र भी वस्तुका स्पर्श करता हुआ, अपनी स्वा
विक पवित्रताको क्या छोड़ देता है ? अर्थात् कभी न
छोड़ता। कैसा आश्चर्य है ?? कि अपवित्र वस्तुको स्
करता हुआ भी सूर्य अपवित्र नहीं होता। तात्पर्य
सूर्यके साथ विष्ठा या गङ्गाजल दोनों किरणोंके आ
स्पृष्ट होने पर भी, सूर्य निर्मल ही रहता है। इसी प्र
आत्म-स्वरूप अपनी ही किरणरूपी कल्पित मलोंको
करता हुआ भी कभी भी अपवित्र अर्थात् समल न
होता। कारण आत्मस्वरूप अत्यन्त निर्मल है ॥८॥

परन्तु, यह भी उदाहरण ठीक नहीं। ऐसा
कोई कहे, कारण यह उसमें, कि सूर्यके साथ तो गङ्
जलका या विष्ठा का स्पश हुआ ही नहीं, कारण,
पवित्र या अपवित्र वस्तुओंसे स्पर्श तो किरणोंसे
परन्तु, इसमें सूर्य यदि पवित्र ही बना रहा तो
आश्चर्य है ? इसलिये कोई दूसरा दृष्टान्त देना चाहि

यह सोचकर एक दूसरा ही दृष्टान्त पुनः दिया जाता है । सुनिये—

पवित्रमपवित्रं वा ज्वलनः सर्वमप्यदन् ॥
स्वर्गपूतः पावकाख्यां वहन् लोके विराजते ॥ ६ ॥

पवित्र हो या अपवित्र, अग्नि सभी कुछ खाता हुआ स्वभावसे पवित्र होनेसे 'पावक' इस नामको धारण करता हुआ जगत्में विराजता है। तात्पर्य यह, कि अग्नि जिस प्रकार घृत जैसे पवित्रतम वस्तुको, तथा विष्ठा जैसी अपवित्र वस्तुको, तात्पर्य कि, सभी कुछ खाता हुआ यह नहीं सोचता, कि पवित्र वस्तु ही मैं खाऊं, तथा अपवित्रको न खाऊं, फिर भी वह स्वभावसे ही पवित्र है। ऐसा सारे शास्त्रोंमें कहा है। अधिक क्या विद्वानोंने, नहीं नहीं, विद्वानों की कसौटि, 'श्रुति' तथा 'स्मृति' ने भी अग्निको पावक अर्थात् पवित्र करनेवाला ऐसा नाम दिया है। इस पावक नामको धारण करता हुआ, यह अग्निदेव चौदहों लोकोंमें अर्थात् करोड़ों ब्रह्माण्डोंमें प्रकाशित होता है, बस आत्मस्वरूप इसी

भांति निर्मल है. अग्निमें पड़ी हुई कोई भी वस्तु, चा
फिर वह कितने ही ऊपरले सिरे की पवित्र हो, अथ
परले सिरेकी अपवित्र हो, वह वस्तु अग्नि-स्वरूप
जाती है, अर्थात् वह भी पावक हो जाती है। इ
प्रकार यह अग्निकी भी अग्नि जो आत्म-स्वरूप है, इ
आत्म-स्वरूपमें कोई भी कल्पना हो, चाहे वह कि
किसी श्रेणीकी मल-स्वरूपिणी हो, उस कल्पितके आत्म
स्वरूप होते ही अत्यन्त निर्मल हो जाती है। तब फि
आत्म-स्वरूप, निर्मलताको कैसे छोड़ सकता है ? अर्थ
वह सर्वदा ही निर्मल ही रहता है। इस उदाहरण
यह भली प्रकार दिखलाया है, कि पूर्ण-निर्मल-वस्तु
साथ किसी प्रकारके भी मलका स्पर्श होने पर भी क
मलिनता नहीं होती ॥९॥

उक्तउदाहरणमें यह शङ्का नहीं होती, कि आत्म
स्वरूपका तथा मलोंका, परस्पर कोई सम्बन्ध ही न
हां, यह बात अन्य है, कि आत्म-दृष्टिमें मल
आत्म-स्वरूप ही हैं, जहां दो वस्तु ही नहीं वहां सम्ब
कैसा ? यहां तो केवल यह दिखलाया गया है, कि

कल्पित मलोंके साथ सम्बन्ध थोड़े चिर मान लेने पर भी आत्म-स्वरूपकी निर्मलता नष्ट नहीं होती, बस इतना ही, इस बातको दूसरे उदाहरणमें भी दिखा देते हैं, वह भी सुन लीजिये--

सुगन्धं दुष्टगन्धं वा मारुतः सर्वतो दिशम् ॥
नयन्नपि स्वयं स्वीयं पावित्र्यं विजहाति किम् ॥ १० ॥

अच्छी गन्धको तथा दुष्ट गन्धको सब दिशाओंमें ले जाता हुआ, यह वायु स्वयं अपनी स्वाभाविक पवित्रताको क्या छोड़ देता है ? तात्पर्य यह, कि वायु चारों ओर बुरी तथा भली अर्थात् दुर्गन्ध तथा सुगन्धको ले जाता है ? पर फिर भी अपनी स्वाभाविक पवित्रताको कभी नहीं छोड़ता, अत एव वायुको पवन कहते हैं। एवमेव सारे व्यवहार आत्म-स्वरूप ही करता है। तथा छत्तीस कोटि मल इस आत्म-स्वरूपके उदरमें भरे पड़े हैं, तथाऽपि यह सभोंके साथ पवित्र ही, अर्थात् अत्यन्त निर्मल ही रहता है। इसमें तो मलिनताकी शङ्का लेश-मात्र नहीं होती। एवंच यहां तकके उदाहरणोंसे इस बातको भली भांति समझा दिया, कि आत्मस्वरूप

पूर्ण निर्मल है। तथा यह भी बात इससे अनायास ह
ठीक हो जाती है, कि सम्पूर्ण मल अर्थात् छत्तीसों म
या तत्त्व, ये आत्म-दृष्टि से निर्मल तथा अनात्म-दृष्टि
मल हैं ॥१०॥

अब यहां एक अन्य शङ्का होती है, कि जीव पू
निर्मल कैसे हो सकता है ? तात्पर्य, नानाप्रकारके शास्त्रों
नाना उपाय बतलाए हैं, उनमें कौन सा उपाय ठीक है
सुनिये इसका भी उत्तर सुनिये—

कर्माऽनुष्ठानतो नैव नैर्मल्यं पूर्णमाप्यते ॥
स्वात्मस्वरूपविज्ञाननिश्चयात्तत्तु लभ्यते ॥ ११॥

कर्मोंके अनुष्ठानसे पूर्ण निर्मलता कभी भी न
पाई जाती, किन्तु अपने आपके स्वरूपके अनुभव
दृढ़तासे ही वह पूर्ण निर्मलता मिल जाती है। तात्
यह, कि पूर्ण निर्मलता कर्मोंके करने से नहीं ही मिल
कर्म कैसा भी हो, विहित हो, या अप्रतिषिद्ध, नि
हो, नैमित्तिक हो, वा काम्य हो, ऐसे ही वह श्रौ
हो, स्मार्त्त हो, या रागप्राप्त हो, कैसा भी हो, उससे
निर्मलता नहीं आ सकती। ऐसे ही यह बात भी स

लेनी चाहिये, कि निष्काम भी कर्म, कर्म-बुद्धिसे किया हुआ यदि हो, तो वह भी पूर्ण निर्मलताको नहीं दिला सकता । इसी प्रकार निषिद्ध कर्म, चाहे वह कैसा भी निषिद्ध हो, तथा किसी प्रमाणसे निषिद्ध हो, पूर्ण निर्मलताको वह खण्डित नहीं कर सकता । पूर्ण निर्मलता तो अपने आप आत्म-स्वरूपके अनुभवकी दृढतासे ही मिल जाती है । अर्थात् एक ही उपाय है, वह यह, कि आत्म-स्वरूपकी वास्तवताका अनुभव करना । हां, इससे यह न समझना चाहिये, कि कर्म-काण्ड वृथा है । कर्म-काण्डका एक एक अक्षर भी ठीक है । किन्तु उसका तात्पर्य यह नहीं, कि पूर्ण निर्मलताको कर्म प्राप्त कराते हैं, वे तो काल्पनिक निर्मलताको ही दिया करते हैं । इसी प्रकार कर्म-काण्डके निषिद्ध कर्म भी पूर्ण निर्मलको अशुद्ध नहीं बना सकते, किन्तु अशुद्धको ही कुछ अधिक अशुद्ध बना देते हैं । वस्तुतः अशुद्धको अधिक अशुद्ध बनाना, या काल्पनिक अशुद्धको काल्पनिक शुद्ध बनाना, ये बातें भी कल्पित ही हैं । तात्पर्य यह, कि पूर्ण ज्ञानीकेलिये सभी एक-रस होनेके कारण सम्पूर्ण व्यवहार, व्यवहारी पुरुषोंकी दृष्टिमें कुछ भिन्न सा भी दिखाई पड़े,

तो भी उसकी अपनी कोई हानि नहीं। इसीलिये
परिपूर्ण ज्ञानी पूर्ण निर्मल होता है। तथा वह पूर्ण
निषिद्ध कर्मोंके छोड़नेसे, या विहित कर्म करनेसे
प्राप्त होता, किन्तु अपने वास्तव स्वरूपके अनुभव
पूर्ण दृढतासे ही प्रत्यभिज्ञात होता है। यह समझ
चाहिये ॥११॥

उक्त बात ठीक भी है। इसकेलिये हम कुछ
तथा सिद्धान्त, पुनः कहेंगे। सुनिये—

पवित्रमपवित्रं वा वस्तु कल्पितमेव यत् ॥
पावित्र्यं भजते सद्यः स्वात्मवह्नौ विलापनात् ॥ १२॥

पवित्र या अपवित्र वस्तु, जो कि कल्पित ही
वह आत्मरूपी अग्निमें गला देनेसे तत्-काल पवित्र
जाती है। तात्पर्य यह है, कि आपेक्षिक पवित्रता
निर्मलता तथा अपवित्रता अर्थात् मलिनता, ये
जो कि कल्पित ही हैं, तात्पर्य यह, कि इस जगत्में
जाग्रत्-जगत्से लेकर सौपुप्त-जगत् पर्यन्त कोई भी
स्पराऽवलम्बी भाव हो, वह कल्पित वस्तु ही है।
बातको हम कई बार कह चुके हैं। वह कल्पित

तथा अपवित्र वस्तु अपने आत्मस्वरूप अग्निमें गला देने-से, वह अर्थात् वह वस्तु, तत्क्षण पूर्ण पवित्र हो जाती है। तात्पर्य यह, कि जैसे अग्निमें डालने पर कोई भी, अर्थात् अपवित्र वस्तु भी, उस वस्तुका पार्थक्य अर्थात् अलगाव नष्ट हो जाने पर, अर्थात् कल्पितता समूल गल जाने पर, तत्काल वह वस्तु पूर्ण निर्मल हो जाती है। तात्पर्य यह है, कि स्थूल सूक्ष्म कारण सम्पूर्ण विश्वोंका तथा उनके जनक स्थूल सूक्ष्म कारण कर्मोंका आत्म-रूप अग्निमें होम कर देने पर, अर्थात् उन सभोंको आत्म-स्वरूपमें लीन करनेके पश्चात् परिपूर्णता ही परि-पूर्णता रहती है ॥१२॥

लीजिये हम एक अन्य दृष्टान्त देते हैं। सुनिये—

निर्मलं समलं वाऽपि हेमवह्नौ विलापितम् ॥
पृथक्तया ज्ञायते किं निर्मलं समलं पुनः ॥ १३ ॥

निर्मल हो या समल, सोना अग्निमें जो गला दिया जाता है, क्या फिर वह निर्मल या समल पृथक्-रूपसे ज्ञात होता है? अर्थात् नहीं। तात्पर्य यह, कि कोई अच्छा सोना अग्निमें डाल दिया जाए, तथा भली भांति

गला दिया जाए, तो उसकी कोई हानि नहीं होती,
निर्मलका निर्मल ही रहता है। ऐसे ही जो मलिन
है, उसको अग्निमें डाल कर भली प्रकार गला दि
जाए, तो वह भी पूर्ण निर्मल हो जाता है। अ
वह निर्मल सोनेसे पृथक् नहीं ज्ञात होता, कारण
सम्पूर्ण मलोंको धो डालती है। इसका एक तात्पर्य
भी है, कि पूर्ण ज्ञानी पुरुष यदि व्यवहारी पुरु
दृष्टिमें आत्माऽनुसन्धान या अद्वैत-भक्ति भी क
हुआ दिखाई दे, तो भी वह जैसाका वैसा ही,
परिपूर्णका परिपूर्ण रहता है। तात्पर्य यह, कि
ज्ञानी यदि लोक-सङ्ग्रह करता हुआ दिखाई दे भी,
भी वे कर्म उसको बाधक नहीं होते, कारण, वे कर्म
रूप हैं। पूर्ण-ज्ञानीको सम्पूर्ण कर्म करते हुए भी
वह यह मेरा कर्त्तव्य है, तथा इसको करनेसे
दूसरेको सुख होगा आदि आदि जैसी कि अपूर्ण-
को हुआ करती हैं, वैसी शङ्का तथा वासना नहीं
किन्तु उन सबको वह आत्म-विलास समझ कर,
भी मिटा दिया हुआ सा अपने आपमें परिपूर्ण
है। इसी प्रकार दूसरे अर्थात् अपूर्ण-ज्ञानीके क

अपूर्ण-ज्ञानी ही जब सम्पूर्ण कर्मोंको अर्थात् कारण सूक्ष्म तथा स्थूल सब प्रकारके कर्मोंको, चाहे वे फिर विहित हों, या निषिद्ध हों, नित्य हों, नैमित्तिक हों, या काम्य अर्थात् सकाम हों, या निष्काम हों, तात्पर्य यह, कि कर्मत्व-रूपसे आत्माऽतिरिक्तताके समान कल्पित किये हुए किसी भी प्रकारके कर्म हों, एवं तज्जन्य सम्पूर्ण विश्वोंको अर्थात् सौषुप्त स्वाप्न तथा जाग्रत्क विश्वों-को अपने आत्म-स्वरूपमें मिला देने पर, अर्थात् उनको परिपूर्ण रूपसे एक कर देने पर वह भी सबोंके साथ पूर्ण ज्ञानी अर्थात् पूर्ण निर्मल हो जाता है। पुनः उसमें तथा परिपूर्ण ज्ञानीमें द्वैतकी या पृथक्ताकी शङ्का भी नहीं होती। जैसे अत्यन्त शुद्ध नमकको देख कर फिर किसी मिट्टीसे निकाले हुए अत्यन्त शुद्ध नमकको समुद्रमें डाल दिया जाए, अनन्तर उन दोनोंका बहुत कष्टसे ढूँढने पर भी द्वैत-भाव नहीं मिलता। इसी प्रकार निर्मल तथा समल कोई भी वस्तु हो आत्मसात् अर्थात् आत्म-रूप होने पर सभी फिर पूर्ण निर्मल ही निर्मल रहती है ॥१३॥

अब एक अन्य भी उदाहरण देकर हम कर्मोंके

विषयमें समझाएंगे, कि पूर्ण-ज्ञानीके कर्म कैसे होते हैं। तथा वह व्यवहार किस प्रकार करता है। चित्त एकाग्र कर सुनिये—

> स्वविलासेन सर्वाणि कुर्वन्कर्माणि सर्वदा ॥
> दीपवत्साक्षिमात्रोऽयं व्यवहाराय कल्पते ॥ १४ ॥

अपने विलाससे सम्पूर्ण कर्मोंको सर्वदा करते हुए दीपकके समान साक्षि-मात्र यह प्रभु व्यवहारके लिये समर्थ होता है, अर्थात् व्यवहारका कारण बनता है। तात्पर्य यह, कि दीपक अपने प्रकाशसे अर्थात् दीपकसे अभिन्न दीपक-प्रकाशसे सारे कर्मोंको करता हुआ भी न करतेके समान तथा साक्षी बना रहकर सम्पूर्ण व्यवहारका साधन दीपक होता रहता है, तात्पर्य यह, कि दीपकके प्रकाशमें सीना, पिरोना, लिखना, पढ़ना, चोरी करना, खेल खेलना, आदि आदि परस्पर भिन्न एकसमयाऽवच्छेदसे तथा एकाऽधिकरणाऽवच्छेदसे व्यवहार होते हुए देखनेमें आते हैं। परन्तु ये सब कर्म क्या दीपक करता है? परन्तु दीपकको बुझा दिया जाए तो यह कर्म बन्द

हो जाते हैं, तो यह क्या दीपक नहीं करता? यदि दीपक करता है, ऐसा मानें, तो भी नहीं बनता, कारण, उन कार्यों को करने वाले परस्पर-विरोधी तथा दीपकसे भी पृथक् दूसरे ही ज्ञात होते हैं। तथा यह भी देखनेमें आता है, कि सम्पूर्ण कर्म दीपकके साक्षि-मात्र होनेसे ही हो रहे हैं। अर्थात् दीपकके देखरेखमें ये सम्पूर्ण काम होते हुए दिखाई देते हैं, अत एव व्यवहारका साधन दीपक होता है। इतना होने पर भी लोग काम करें या न करें, करें तो दीपकका लाभ नहीं तथा न करें, तो उसकी हानि नहीं कारण वह तो अपने आप को ही देखना या दिखाना तथा अपने आपमें रहना यही जो परिपूर्णता है, इस स्वानन्द को लूटता है, तात्पर्य यह, कि व्यवहारसे मानों उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। ऐसा होकर सारा व्यवहार छोटी सी छोटी बातको लेकर बड़ी सी बड़ी बात तक देखता रहता है। अर्थात् उन सबोंका कारण है। बस इसी प्रकार यह सर्वत्र सर्वदा तथा सर्वतः परिपूर्ण प्रकाश-स्वरूप परिपूर्ण-स्वतन्त्र या महाविद्या-स्वरूप पूर्ण-निर्मल आत्मविलाससे सब कुछ

करता हुआ भी मानों नहीं करता है ॥१४॥

अत्र कर्म बन्धन किसको करते हैं, इस वात
तथा कर्माऽकर्म-विचार किनके लिये आवश्यक है,
विषयमें कह कर पश्चात् उदाहरणोंसे समझा
मालिन्यका लक्षण तथा पूर्ण-निर्मल-स्वरूपका सोपसं
विवरण करेंगे। सुनिये--

> न्याय्यं वा विपरीतं वा कर्म बन्धाय कल्पितम्॥
> अद्वैततत्त्वविज्ञाननिष्णातानां कथं भवेत् ॥ १५ ॥

न्याय्य एवं उससे विपरीत अर्थात् अन्याय्य
भी हो, कर्म बन्धनके लिये ही होता है। कार
यह कल्पित है। यह कल्पित कर्म अद्वैत-तत्
अनुभवमें भली प्रकार जिन्होंने अपने आपको नहला
हैं, उनको बन्धनके लिये, कैसे होगा? तात्पर्य
कि अच्छा हो या बुरा, किसी प्रकारका भी,
बन्धन-कारक ही होता है। कारण, वह कल्पि
जैसे लोहेकी बेड़ी हो, या सोने की, बांधनेके
दोनों एक सा ही काम देगी। इसी प्रकार चाहे

की सोंटीसे किसीको मारा जाए या ईखसे, फिर भी मार खाना दोनोंका ही बुरा है। इसी प्रकार कल्पित कर्म-मात्र बन्धनकेलिये ही ठहराए गये हैं। वे स्वर्ग प्राप्त कराने वाले हों, या नरक प्राप्त करानेवाले, बांधने वाले तो दोनों ही हैं। परन्तु अद्वैत-तत्त्व अर्थात् वस्तु-मात्रका अर्थात् कल्पिताऽकल्पित-वस्तुमात्रका आत्म-रूपसे अनुभवमें भली भांति जिन्हों-ने स्नान कर लिया है, अर्थात् जो पूर्ण पवित्र अर्थात् निर्मल-रूप हो चुके हैं, उनको किस तरह बांध सकेंगे? कारण यह, कि पूर्ण निर्मल कभी भी अर्थात् बनावटी अपवित्र, अर्थात् समलता मान लेने पर भी वे अपवित्र या अशुद्ध नहीं हो सकते। उनको किस कर्मकी शक्ति है, कि उनको अर्थात् पूर्ण-निर्मल-पुरुषोंको बांध सके? कारण, बांधनेकेलिये कोई सत्ता तो चाहिये! पर कल्पित की तो कोई सत्ता ही नहीं। इस बातको कई बार हम समझा चुके हैं ॥१५॥

लीजिये एक अन्य भी उदाहरण देकर समझाते हैं। सावधान हो कर सुनिये –

पितामहः शिशुं पौत्रं रञ्जयन् लोहलो भवन्॥
स्वानन्दं विन्दते कश्चित् तद्वदात्माऽपि निर्मलः॥ १६॥

पितामह अपने बच्चे पोतेको खिलाता हुआ उस बच्चेके समान स्वयं भी तुलता बन कर अपने किसी अपूर्व आनन्दको पाता है। उसी प्रकार आत्म-स्वरूप भी अत्यन्त निर्मल है। तात्पर्य यह, कि दादा अपने तुतले पोतेको जो कि 'र'की जगह 'ल' इस प्रकार बोलता है, उस बच्चेको गोदमें ले कर उसे प्रसन्न करनेकेलिये स्वय भी तुतला अर्थात् वैसे ही 'र' की जगह 'ल' कहनेवाले बच्चेके समान हो जाता है। ऐसा करनेसे उस बच्चेको तो अपूर्व आनन्द आता ही है, किन्तु इस दादेको भी कोई अनिर्वचनीय आनन्द आता है। तभी तो यह ऐसा करता है, तथा अपने आपको अति धन्य समझता है। परन्तु क्या वास्तवमें वह तुतला है? क्या उसको शङ्का भी होती है, कि मैं तुतला हूँ? नहीं। कारण, यहां शङ्काका कारण ही कुछ नहीं। शङ्काका कारण तो विरुद्ध ज्ञान है। यहां तो 'मैं तुतला हूँ, या स्पष्ट बोलने वाला हूँ' इस विरुद्ध ज्ञान-

का अभाव ही है। अर्थात् यह उत्पन्न ही नहीं हुआ। तात्पर्य यह, कि अपने आपको प्रसन्न करनेकेलिये, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि पहले दुःख ही था, किन्तु पूर्ण-काम होनेके कारण एवं पूर्ण स्वतन्त्र पूर्णाऽऽनन्द-स्वरूप होनेसे ऐसा करता हुआ भी उनकी आकाङ्क्षा नहीं रखता, या इस प्रकारके कार्यमें कोई कर्तव्य-बुद्धि भी नहीं रखता है। बस ठीक इसी प्रकार आत्मस्वरूप भी पूर्ण निर्मल है। तात्पर्य यह, कि यह सब कुछ कल्पना-मय व्यवहार, आत्मस्वरूपसे अनात्मस्वरूपके समान चमका कर पुनः उसको आत्मस्वरूपके समान ही चमकाता है। या यों कहिये, कि स्वयं ही आपसे मानों बाहर होकर अनात्मरूपके समान चमकता है। तथा अपनी इच्छाके अनुसार आत्म-रूपकी भांति चमकता है। बात एक ही है। कल्पित-भावसे चमके, या अकल्पित-भावसे। इसी प्रकार इसका चमकना भी और चमकाना भी एक ही है। बस यही पूर्ण-निर्मलका स्वरूप है। पूर्ण-निर्मलका व्यवहार अर्थात् उसका कर्म करना इस प्रकार होता है ॥१६॥

तो फिर क्या सम्पूर्ण श्रुति-स्मृतियां जो कि कर्म

तथा उपासनाको प्रतिपादित करती हैं, तथा यदि ठीक देखा जाए, तो सारे संसारके ग्रन्थोंमें विधि और निषेधों का ही अर्थात् कर्माऽकर्मोंकी ही पताका लहराती हुई दिखाई देती है। इने गिने कुछ ऐसे होंगे, जो कि यह कहते हैं, कि यह वृथा है। तथा मुखसे इसको वृथा कहते हुए भी इन कर्माऽकर्मोंके झगड़ोंसे अस्पृष्ट नहीं रह पाते, तथा रहें भी कैसे ? हां ठीक है, इसका उत्तर सावधान हो सुनिये— बात यह है, कि आप जो यह कहते हैं, कि 'सारे संसारके ग्रन्थोंमें कर्माऽकर्म-विचारकी पताका ही फहराती देखनेमें आती है, तथा उसको व्यर्थ बतलाने वाले इने गिने हैं,' तो इससे आपकी बातकी पुष्टि नहीं हो सकती। कारण, अनेकता ही कल्पित है। तथा अनेकतामें भी अनन्तता है। इसलिये उसमें कर्माऽकर्म-विचार ठीक ही है। अत एव संसारके सभी ग्रन्थोंमें कर्माऽकर्म पर ही विशेष लिखा हुआ रहेगा, तथा रहना भी चाहिये, पहाड़ तलहटी में जितने चौड़े होते हैं उतने चोटी पर नहीं, तो क्या चोटी सराहनीय नहीं होती ? प्रत्युत उसीको पानेका अर्थात् उसी पर जानेका

उद्योग लोग करते हैं, एवं उसीमें अपने आपको धन्य मानते हैं। पर भला बतलाइये तो सही, कि हिमालयके सबसे ऊंची चोटी पर कितने गये? क्या उस पर यदि कोई पहुंच जाए, तो वह सबसे धन्य नहीं माना जाएगा? यदि नहीं, तो उस पर जानेके लिये प्रयत्न क्यों किया जाता है? 'अआइई' पढने वाले बच्चे तथा उनकेलिये खुली प्राथमिक पाठशालाएं संसारमें सबसे अधिक नहीं है? तो क्या 'एम. ए.'में उत्तीर्ण या शास्त्रि-श्रेणीमें उत्तीर्णकी सम्मतिसे उन बच्चोंकी सम्मति अधिक प्रमाण मानी जाती है? या वे बच्चे 'एम. ए.' श्रेणीमें उत्तीर्ण होनेकेलिये, या शास्त्री होनेकेलिये नहीं चाहते? इसी प्रकार ऐसा कहनेवाले, कि कर्माऽकर्म-विचार व्यर्थ है, तथा उनसे कोई लाभ नहीं, इस प्रकार कहनेवाले इने गिने हैं, इसका अर्थ क्या? अजी! वे तो एम. ए. या शास्त्रियोंके समान या हिमालयके सर्वोच्च शिखर पर पहुंचने वाले धन्य पुरुषके समान इने गिने ही रहेंगे, थे भी इने गिने ही, वर्त्तमानमें भी इने गिने ही मिलेंगे, तथा भविष्यत्में भी इने गिने ही होंगे। यह बात तो

हमारे ही मतकी पुष्टि करती है। वाहजी! वाह!
बलिहारी ऐसे आपके पाण्डित्यकी। ऐसी ना समझ
समझदारसे लोहा लेना आपहीको सजेगा। अस्तु
सुनिये— उन सर्वोच्च शिखर पर चढे महात्माओं
अनुवभ कैसा है, इस बातको बता देते हैं, यद्य
अनुभव कहनेमें पूर्ण-रूपसे नहीं आ सकता, इस बात
हमने दूसरे प्रकरणमें कह दिया है, तो भी कुछ
शाखाचन्द्रन्यायसे आपको समझा देते हैं, सुनिये—

> कर्माऽकर्मविचारो हि मूढ़ानां भेददर्शिनाम्॥
> कृते स्वरूपविज्ञानां पण्डितानां न जात्वापि॥ १७।

कर्म तथा अकर्मका विचार मूर्ख जोकि भेददर्शी हैं,
लोगोंकेलिये ही निश्चित किया गया है। यह अपने आ
के स्वरूपका अनुभव करनेवाले पण्डितोंके लिये क
भी नहीं है। तात्पर्य यह है, कि भेद-दृष्टि अपनी भी
तथा जो भेद ही दिखलाते हैं, अर्थात् अद्वैत तत्त्वको
वह जानते हैं, तथा न उन्हें अनुभव ही है, कारण
सिद्धान्त-ज्ञान अर्थात् शास्त्र-ज्ञान पहले सम्पादन कि

जाता है, अनन्तर उसका अनुभव किया जाता है, अर्थात् विज्ञान किया जाता है। तो जिनको अद्वैत-ज्ञान ही नहीं उनको अद्वैत-विज्ञान कैसे होगा ? अतः वे सर्वदा भेद ही भेद देखते हैं, तथा दिखाते हैं, उनको मूर्ख कहते हैं, ऐसे लोगोंके वास्ते ही यह कर्म तथा अकर्म अर्थात् स्थूल-कर्म-काण्ड तथा सूक्ष्म-कर्मकाण्ड, अर्थात् उपासना-काण्ड या कर्म अर्थात् विहित कर्म, जो कि श्रौत, स्मार्त्त, नित्य, नैमित्तिक, काम्य होता है, एवं अकर्म अर्थात् निषिद्ध कर्म, यह भी श्रौत, स्मार्त, नित्य, नैमित्तिक, काम्य, अथवा कर्म, अर्थात् कल्पित तथा अकर्म, अर्थात् अकल्पित, इनका विचार अर्थात् कर्तव्याऽकर्तव्य-ज्ञान या सिद्धान्त यह है, अर्थात् ठहराया है। यह अपने आपके परिपूर्ण अनुभवी पण्डितोंके लिये कदाऽपि नहीं हो सकता, अर्थात् उनके लिये यह कर्माऽकर्म-विचार साधक या बाधक नहीं होता। क्या शास्त्रि-परीक्षोत्तीर्ण अ आ इ ई नहीं लिखता ? या पहली श्रेणीकी पुस्तकोंको कभी उठा कर पढ नहीं लेता ? पर इससे क्या उसकी शास्त्रित्वकी हानि होती है ? या

शिशु-वर्गमें पढ़ने वाले बच्चोंके समान शास्त्रीकेलिये
यह नियम होता है, कि वह प्रतिदिन "अ आ"
से ले कर "क्षं क्षः" पर्यन्त बाराखडियां लिखा
करे ? तथा उन पुस्तकोंको पढ़ा ही करे। बस
प्रकार आत्मस्वरूपके अनुभवी पण्डितके लिये
कर्माऽकर्म-विचारका नियम नहीं लागू हो सकता,
वह उन ग्रन्थोंके अनुसार कर्माऽकर्मोंको उपयोगमें
या उससे सर्वथा विपरीत ही चले। बस यही पण्डि
का लक्षण भी है, कि सर्वत्र आत्म-दृष्टिसे दे
तथा अपने आनन्दकेलिये अद्वैत-तत्त्वका साक्षात्
कराना। अतः ऐसे लोग करोड़ोंमें ही एक आध
गिने यदि हुए, तो आश्चर्य ही क्या ? अजी ! ऐसा
हो, तो ही आश्चर्य है। जो वस्तु अलभ्य होती है,
का मूल्य भी अधिक हुआ करता है। अत एव उन
पानेसे धन्यता प्राप्त होती है। यहां एक बात और
है, वह यह कि मूढ लोगोंकेलिये, जो भेद-दर्शी हैं,
स्वयं भेद-दृष्टि नहीं हैं, किन्तु भेद-दृष्टियोंके समान
आपको जो दिखलाते हैं, उन वस्तुतः स्वरूपाऽ

पण्डितोंकेलिये कर्माऽकर्म-विचारका अड्ङ्गा नहीं हुआ करता। तात्पर्य यह, कि शास्त्रीय कर्माऽकर्म-विचारा-ऽनुकूल चलने पर भी वे पण्डित हानि नहीं उठाते, प्रत्युत सोलहवीं कारिकाके कथनाऽनुसार आनन्द ही लूटते हैं ॥१७॥

अच्छा जी ! एक बार आपका पूर्ण नैर्मल्य क्या है ? इसको पुनः कहिये। कारण, हमें यहां यह शङ्का होती है, कि जब शास्त्राऽनुकूल कर्माऽकर्म-विचारके अनुसार चलनेसे यदि आत्मविज्ञ पण्डितोंकी कोई हानि नहीं होती, तो इसमें कौनसी बड़ी बात है ? किन्तु उससे विरुद्ध अर्थात् कर्माऽकर्म-विचार-विरुद्ध चलने पर हानि नहीं होती, इस बातको मानना युक्ति-युक्त नहीं प्रतीत होता। भला समझदार मनुष्य अग्निमें यदि हाथ डाले तो क्या वह जलेगा नहीं ? ऐसा कैसे हो सकता है ? अतः आपका यह पूर्ण नैर्मल्य कैसा है ? वादीके इस प्रकार पूछने पर हमारा कहना यह है, सुनिये तथा धारण करिये—

स्वात्मविज्ञानविश्रान्तो ब्रह्महत्याशतैरपि ॥
न जातु स्पृश्यते पूर्णं नैर्मल्यमिदमेव हि ॥ १८ ॥

अपने आत्म-स्वरूपके अनुभवसे जिसकी सम्पूर्ण शङ्काएँ दूर हो चुकी हैं, अर्थात् जो परिपूर्ण आत्म-स्वरूप बन चुका है, वह सौं ब्रह्म-हत्याओंसे भी कभी भी स्पृष्ट नहीं होता। बस यही पूर्ण नैर्मल्य है। तात्पर्य यह, कि आत्म-स्वरूपमें जो विश्रान्त हो चुका है, अर्थात् जो सर्व-स्वरूप हो चुका है, उसको सौं ब्रह्महत्याओंसे भी स्पर्श नहीं होता है। तात्पर्य यह है, कि जिसको आत्म-स्वरूप का परिपूर्ण विज्ञान हो चुका है, अर्थात् आत्मस्वरूपाऽतिरिक्त जब दूसरी वस्तु ही नहीं दीखती, तब ब्रह्महत्या आत्मस्वरूपमें पृथक् कहां रहेगी ? अतः सौं क्या, सौं तो उपलक्षण है, अज्ञानीकी दृष्टिमें करोड़ों भी ब्रह्महत्या यदि वह करे, तो भी उसको उससे कदाचित् भी स्पर्श नहीं होता। इन्द्रजालका खेल करने वाला दूसरोंको घड़ीका तोड डालना या बकरीका मार डालना आदि आदि अनेक बातें, जो कि व्यावहारिक पुरुषोंकी दृष्टिमें अत्यन्त अद्भुत हैं, पर क्या वे बातें उस

ऐन्द्रजालिकके लिये भी सत्य हैं ? नहीं। तद्वत् अनन्त-कोटि-ब्रह्माण्डका पञ्चकृत्य-रूप इन्द्रजाल करने वाले परशिव ऐन्द्रजालिकको ही क्या वे बातें आश्चर्यमें डाल सकती हैं ? नहीं। कदापि नहीं। कारण, वे सारी बातें तो उसकी अपनी कल्पित हैं। ऐसे ही परिपूर्ण ज्ञानीको ब्रह्म-हत्या सौ हों या करोड़, उसका उनसे क्या सम्बन्ध ? बस यही पूर्ण नैर्मल्य है। यह बात निश्चित है ॥१८॥

पूर्वोक्त बात भली प्रकार वादीके हृदयमें बिठानेके-लिये एक उदाहरण पुनः दे रहे हैं। सावधान होकर सुनना। ऐसी बातें बारबार नहीं सुनने में आतीं—

तुषारकिरणो गर्त्ते दुर्गन्धिजलपूरिते ॥
दुर्गन्धित्वं भजति किं स्वच्छायां पातयन्नपि ॥ १९ ॥

तुषार-किरण अर्थात् चन्द्रमा, दुर्गन्धि जलसे भरे गढेमें अपनी छायाको गिराता हुआ भी क्या कभी दुर्गन्धी होता हैं ? तात्पर्य यह, कि तुषारके अर्थात् बर्फके समान अथवा बर्फ ही समझिये, जिसके किरण हैं, ऐसा चन्द्रमा, तुषार-किरण पदसे हमारा यह अभिप्राय

है, कि जो परिपूर्ण शान्त है, अत एव जो दूसरोंको भी शान्ति प्रदान करता है, वह चन्द्रमा दुर्गन्धि जलसे भरे गढेमें क्या अपने प्रतिबिम्बको नहीं डालता ? हां अवश्य डालता है, फिर भी वह दुर्गन्धी क्यों नहीं होता ? उसको तो दुर्गन्धी होना चाहिये। परन्तु आज पर्यन्त किसीने भी सुना या देखा नहीं, कि चन्द्रमा ऐसी अवस्थामें दुर्गन्धी होता है। कारण यह है, कि वह पूर्ण निर्मल है। तथा उसका किसी पदार्थके साथ सम्बन्ध नहीं है। देखनेमें तो अवश्य आता है, कि चन्द्रमाका सम्बन्ध सभी पदार्थोंसे कुछ न कुछ है ही। यदि ऐसा नहीं, तो पूर्ण-चन्द्रको देखकर समुद्र क्यों उमड़ आता है ? तथा कुँरविणी क्यों खिलती है ? या चकोर अपनी चांचोंको क्यों पसारते हैं ? या औषधियोंमें रस क्यों आता है ? भला यदि चन्द्रमाका हमसे कोई सम्बन्ध नहीं, ऐसा कहें, तो चाँदनीमें हमें क्यों शीतलता प्राप्त होती है ? या जल क्यों शीत होते हैं ? तात्पर्य यह है, कि चन्द्रमाका सम्बन्ध प्रत्येक वस्तुसे है, तथाऽपि वह निर्मल होनेके कारण उसको कभी भी कोई दोष नहीं

लगता । इसी प्रकार ज्ञानी पुरुषको किसी भी पापसे स्पर्श नहीं होता अस्तु ॥१९॥

कोई लोग मलके विषयमें कुछ अन्य ही कहते हैं, इसका भी सङ्क्षेपसे यहां सूचन कर देते हैं । सुनिये—

मलानां त्रितयं कैश्चित् स्वग्रन्थे प्रतिपादितम् ॥
वास्तवं नैव तत् किं तु स्वानन्दोल्लास एव सः ॥ २० ॥

किन्हि किन्हि ग्रन्थ-कारोंने अपने ग्रन्थोंमें ऐसा प्रतिपादन किया है, कि मल तीन हैं । वस्तुतः देखा जाए, तो उन ग्रन्थ-कारोंका ऐसा अभिप्राय नहीं है । हम तो यह कहते हैं, कि यह तो स्वात्माऽऽनन्दका उल्लास-मात्र है । तात्पर्य यह कि कोई ग्रन्थ-कार अर्थात् शैव-शास्त्रके आचार्य अपने ग्रन्थोंमें कहते हैं, कि मल तीन हैं तथा उनको क्रमसे अर्थात् अवरोह-क्रमसे आणव, मायीय, तथा कार्म, ऐसे तीन नाम हैं । वस्तुतः देखा जाए तो तीन ही हैं, ऐसी कोई बात नहीं । साधारण-तया समझानेकेलिये तीन विभाग किये हैं । वस्तुतः यह या वह अपने आत्माऽऽनन्दका उल्लास-मात्र ही है । तात्पर्य यह, कि उन्होंने जो कुछ लिखा है, उसका

तात्पर्य यह नहीं कि बस मल तीन ही हैं, अर्थात् तीनसे अधिक भी नहीं, तथा तीनसे न्यून भी नहीं। इस बात को जाननेकेलिये आचार्य-अभिनवगुप्तके ग्रन्थ देखने चाहियें। उन्होंने यही लिखा है। पङ्क्तिशः न लिखा हो, तथाऽपि उनके ग्रन्थोंका सम्प्रदाय-पूर्वक अध्ययन करनेसे, हम जो कह रहे हैं, यह ठीक प्रत्यभिज्ञात होगा। आज-कलके अपने आपको शैवी बतलानेवाले कुछ काशमीरी पण्डित वृथा ही झगड़ते हैं। परन्तु वस्तुतः उन्हें शैवी-ज्ञानके अनुभवका लेश-मात्र भी नहीं है। अस्तु ॥२०॥

अब हम यह बतलाएंगे कि मल क्या है ? तथा पूर्ण-निर्मल-स्वरूप क्या है ? सुनिये एकाग्र चित्तसे सुनिये—

> मालिन्यमन्यथा ज्ञानं संसारोल्लासकारणम् ॥
> ज्ञानं यथार्थं नैर्मल्यं संसारोच्छेदकारणम् ॥ २१ ॥

विपरीत-ज्ञानको मलिनता कहते हैं, अर्थात् अविद्याका ही नाम मल है, तथा जो कि संसारको उल्लासित करता है। यथार्थ-ज्ञानको नैर्मल्य कहते हैं, जो कि संसार

को नष्ट कर देता है। तात्पर्य यह है, कि आपेक्षिक विद्या एवं अविद्या ही निर्मलता तथा मलिनताएं हैं, जो कि संसारको उत्पन्न करना, एवं नष्ट करना क्रिया करती हैं ॥२१॥

उभाभ्यामप्यतीतं यत् पूर्ण नैर्मल्यमेव तु ॥
स्वात्माऽभिन्न महाविद्यास्वरूपं तद्विराजते ॥ २२ ॥

इन दोनोंसे अतीत अर्थात् परे जो कि पूर्ण नैर्मल्य है, वह तो आत्म-स्वरूपसे पृथक् नहीं है। तथा महा-विद्या-स्वरूपसे विचित्र प्रकारसे चमका करता है। तात्पर्य यह है, कि चाहे जीव-भाव हो या शिव-भाव, दोनों कल्पित हैं, एवं दोनों ही अपेक्षासे मलिन तथा निर्मल कहे जाते हैं। हैं दोनों कल्पित ही। यद्यपि इन दोनोंसे अतीत, इनसे अतिरिक्त नहीं, तो भी इन भावोंको सम्मुख रखकर मूर्खोंको समझानेके लिये यह अतीत, ऐसा कहा गया है। कारण, यह आत्म-स्वरूप ही है। उससे पृथक् कुछ नहीं, ऐसा सिद्धान्त है। अत एव समझाने-केलिये ही निश्चयसे हम उसको पूर्ण-नैर्मल्य कह रहे हैं। वस्तुतः यह महाविद्या-स्वरूप आत्म-विलास ही नाना-

प्रकारसे हो रहा है। अधिक क्या कहा जाए भला ? ॥ २२ ॥

अभी तक प्रायः प्रत्येक कोणसे इसी एक बातको समझाया गया है। अब अन्तमें एक बात प्रार्थना या अशीर्वादके समान कुछ कह कर अनन्तर प्रकरणका सम्पूर्ण सिद्धान्त एक ही कारिकामें बतलाते हैं। सुनिये—

सद्गुरूपासनाप्राप्तपूर्णनैर्मल्यनिश्चयात् ॥
स्वानन्दकारणं पूर्णनैर्मल्यमनुभूयताम् ॥ २३ ॥

सद्गुरुके उपासनासे प्राप्त पूर्ण-निर्मलताके निश्चयसे अपने आनन्दके कारण पूर्ण-नैर्मल्यका अनुभव करिये, तात्पर्य यह, कि पूर्ण-नैर्मल्य क्या है ? इस बातका रहस्य, सद्गुरुकी सेवासे ही प्राप्त हो सकता है। सद्गुरुकी उपासना अवश्य ही करनी चाहिये। हां, यह बात पृथक् है, कि कोई भी काम, क्रमशः अन्तिम उन्नति पर्यन्त पहुँचनेमें सहायक हो सकता है। परन्तु निश्चयसे वैसा हो ही जाता है, यह बात नहीं। वह तो तभी हो सकता है, कि जब पूर्ण सहायक मिले। जैसे समुद्रमें

सूर्य-किरणोंके द्वारा आकृष्ट जल मेघ-रूप होकर हिमालयकी चोटियोंपर गिरा तथा वहां तो हिम हो गया, हिम होकर न जाने कब तक पडा रहना होगा ? वहां से समुद्रमें आनेकेलिये यदि किसी महानदीमें न आकर पशु पक्षि आदि लाखों या करोड़ों योनिके प्राणियोंके पेटमें जाए, तथा पुनः वहांसे निकले तो पुनः न जाने कितना समय लगेगा ? क्या निश्चय है। परन्तु महानदीमें उसके एक-मात्र आश्रय लेकर उसको शरण हो जाए, तथा पूर्ण शरण हो जाए तो समुद्रमें शीघ्र हा पहुंच जाएगा। बस सद्गुरुकी उपासनासे अपने आपको पूर्ण-नैर्मल्यके निश्चय हो जानेसे, पूर्ण-नैर्मल्य, जो कि अपने आत्मानन्दका एक-मात्र कारण है, उसकी अनुभूति हो जाती है। अनन्तर वह महाविद्या-स्वरूप पूर्ण-नैर्मल्य आत्मविलास प्रत्यभिज्ञात होता है। गुरु सत् कैसे होता है ? अर्थात् सद्गुरु किसको कहते हैं ? इस बातको हम तीसरे प्रकरणमें तेईसवीं कारिकामें दिखा चुके हैं। तात्पर्य यह है, कि यहां तक जो कुछ कह चुके इसकी वास्तवता सद्गुरुकी कृपाके विना प्राप्त नहीं हो

सकती, तथा उसके प्राप्त होने पर पूर्ण-निर्मलताका अनुभव अपने आपमें ही प्रकट हो जाता है। अनन्तर उसके मिटनेकी या उसको स्मरण रखनेकी आशङ्का अथवा आवश्यकता कुछ भी नहीं रहती। बस अन्तिम प्रार्थना या आशंसा या आशीर्वाद कह लीजिये, यही है कि अपने पूर्णानन्दका समरस एक-मात्र कारण परिपूर्ण आत्मस्वरूप पूर्णनैर्मल्यका अनुभव करते हुए तद्रूप हो रहें ॥२३॥

अब इस प्रकरणकी समाप्तिमें सम्पूर्ण प्रकरणका फलितार्थ, जो कि बीज-स्वरूप ही है। अपेक्षा-कृत भेद-से, यह फल-स्वरूप हो जाता है। अत एव इसको उप-संहार भी कहते हैं। अभी तक जो कुछ इस प्रकरणमें निश्चित किया गया, वह यह है। सुनिये—

निजसहजविलासोल्लासितां विश्वरूपा—
मनुपमचितिवह्नावाहुतिं होमयन्तः ॥
निजविलसितपूर्णाऽऽनन्दपीयूषपानै—
रधिहृदि विजयन्ते पूर्णनैर्मल्यभाजः ॥ २४ ॥

अपने स्वरूप विलाससे उल्लासित विश्वरूप आहुति-

का सादृश्य-रहित चिद्रूप अग्निमें होम करने वाले, अपने विलास-रूपी पूर्णाऽऽनन्दाऽमृतके पानसे पूर्ण-नैर्मल्यको प्राप्त करते हुए हृदयमें सर्वोत्कर्षसे या विलक्षण स्वरूपसे शोभित हो रहे हैं। तात्पर्य यह, कि यह विश्वरूपी आहुतिको अपने स्वभाव-भूत विलाससे उल्लासित करके अर्थात् यह सम्पूर्ण विश्व आत्म-स्वरूपके सहज विलाससे ही उल्लासित होता है। अथच वह आत्म-स्वरूपमें होम करनेकेलिये आहुतिका काम देता है। तथा इस विश्व-रूपकी आहुति आत्मस्वरूपमें डाली जाती है। कारण, आत्मस्वरूप पूर्ण चैतन्य है। पूर्ण चैतन्य अनन्त विश्वका ग्रास करनेके कारण यह अग्नि ही है। परन्तु यह व्याव-हारिक अग्निके समान लौकिक नहीं है। यह तो अनुपम है। कारण, इसके साथ उपमा देनेकेलिये दूसरा कोई पदार्थ है ही नहीं। अर्थात् उसकी तो प्रतीति ही नहीं होती। ऐसे अद्भुत चिदग्निमें विश्वरूपी आहुतिका होम करनेवाले अपना विलसित अर्थात् विलासरूपी जो पूर्ण आनन्द वही अमृत उसके पानसे, तात्पर्य यह है, कि कर्म-काण्डी अग्नि-होत्रादि यज्ञादिकोंसे स्वर्गको

पाते हैं। तथा वहां अमृत पीते हैं। एवं उस अग्नि-होत्रका साधन अग्नि, लौकिक हुआ करती है। जिसमें कि लकड़ी घृत दुग्धादि या पशु-पुरोडाशादिका होम किया जाता है। परन्तु इस लौकिक यज्ञसे लौकिक स्वर्ग, तथा लौकिक ही वहांका अमृत मिलता है। तथा लौकिक ही निर्मलता भी प्राप्त होती है। परन्तु यह यज्ञ तो कुछ अद्भुत ही है। इस यज्ञमें चिद्रूपी अद्भुत अग्नि तथा जो कि आत्म-स्वरूप ही है। यहां आहुति अर्थात् होम-द्रव्य भी सम्पूर्ण विश्व है। एवं यहां होममें यजमानकी जो कल्पित यजमानता है, उसका भी होम हो जाता है। तथा यह विश्व-रूप आहुति भी लौकिक, आहुतियों-के समान कष्टसे नहीं पाई जाती, किन्तु यह तो अपने आत्म-स्वरूपसे सहज ही विलास-मात्रसे ही प्राप्त हो जाती है। अथच इस प्रकार इस होमको करनेवाले अपने विलास-स्वरूप पूर्णाऽऽनन्दाऽमृत पान करते हैं। अनन्तर पूर्ण-नैर्मल्य-स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है। हां, यहां अमृत, तथा उसका पीना, एवं पूर्ण-नैर्मल्य भी नहीं है। ऐसी अलौकिक बात है। अधिक क्या इनका

स्वर्ग कोई आपेक्षिक स्वर्ग नहीं, कि जहांसे पुण्य क्षीण होने पर पुनः लौटना पड़े ? यह तो अलौकिक स्वर्ग है। यहां आने जानेमें पूर्ण स्वाधीनता रहती है। यह स्वर्ग अलौकिक होनेके कारण कर्मोंसे उत्पन्न नहीं किया जाता, किन्तु यह स्वतः सिद्ध आत्मस्वरूप ही है। अतः ऐसे होम करनेवाले हृदयमें अर्थात् अपने आपमें ही पूर्ण-रूपसे जय जकारके साथ अर्थात् स्वरूप-धन्य तथा स्वनाम-धन्य हो रहते हैं। कारण, यहां कोई उपमा ही नहीं हो सकती। अतः ऐसे पूर्ण निर्मल, पूर्ण स्वतन्त्र महाविद्यास्वरूप, एक अद्वितीय सच्चिदानन्द-कन्द आत्मविलासका विजय है ॥२४॥

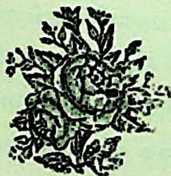
पूर्णनैर्मल्यरूपेण पूर्णनैर्मल्यरूपिणः ॥
पूर्णनैर्मल्यस्वरूपं स्वाऽऽनन्दाय निरूपितम् ॥ २५ ॥

पूर्ण-नैर्मल्यरूपने पूर्ण-नैर्मल्यरूपीके पूर्णनैर्मल्यके स्वरूपको अपने आनन्दकेलिये निरूपण किया। तात्पर्य यह, कि यह पूर्ण-नैर्मल्य-स्वरूप परमेश्वर परमात्मा अपने स्वरूपभूत पूर्णनैर्मल्यको अपने आनन्दकेलिये अर्थात् आत्माऽऽनन्दकेलिये उस पूर्ण-नैर्मल्य-रूपने निरूपण

किया। तात्पर्य यह है, कि इस प्रकरणका कारण, उद्देश, विषय, फल, तथा सम्बन्ध सभी कुछ पूर्ण-नैर्मल्य है। जिनकी दृष्टिमें कर्तृ-कर्म-क्रियाकी एकाऽधिकरणतासे विरोध हो उनको विरोध होता रहे, यहां उससे हानि लेशमात्र भी नहीं, कारण परिपूर्णतामें कभी भी अनुपपत्ति नहीं हुआ करती। अतः इसमें इस प्रकरणकी या इसको निरूपण करनेवालेकी हानि नहीं, हानि तो कल्पित है, तथा कल्पितोंको ही हुआ करती है, अतः यह जो कुछ लिखा गया है, वह सब ठीक ही है ॥२५॥

इति श्री-महामहिम-आचार्य-श्रीमदमृतवाग्भवसमुल्लासिते स्वोपज्ञ 'सुन्दरी' इत्याख्यराष्ट्रभाषाव्याख्यासमुल्लासिते आत्मविलासे नैर्मल्यस्वरूपनिरूपणं नाम पञ्चमं प्रकरणम् ।

——:o:——



॥ श्रीः ॥

षष्ठं प्रकरणम् ।



पूर्णाकर्तृत्वनिरूपणम् ।

यहां तक पांच प्रकरणोंमें आत्मतत्त्वका विचार उन उन कोणोंको दृष्टिमें रख कर एक ही बातको दृढ़तासे समझाया गया है। उसमें पांचवें प्रकरणमें पूर्ण-नैर्मल्य-का निरूपण किया गया। प्रसङ्गसे तत्त्व-विचार, कर्माऽकर्म-विचार, तथा बन्ध-मोक्ष-विचार भी कर लिया गया है। अब एक शङ्का अन्य भी, जो कि प्रायः ना-समझ लोगोंमें ही देखी जाती है, कभी कभी बड़े विद्वान्-भी हठ कर बैठते हैं, वस्तुतः देखा जाए तो, विद्वान् तथा हठ करना, ये तो परस्पर विरोधी बातें हैं। वस्तुतः वे विद्वान् पूर्ण विद्वान् नहीं हैं। किन्तु अनुभव-शून्य होनेके कारण ऐसा किया करते हैं। अस्तु। तथाऽपि उनकी उस शङ्काका उत्तर भी देना चाहिये। कारण,

शङ्का कोई भी हो, तथा कैसी भी हो, शङ्का होते ही समाधानकेलिये उद्योग करना ही चाहिये, कारण शङ्कितको समाधानके विना स्वस्थता या शान्ति कैसे हो सकती है ? अथच इस ग्रन्थका उद्देश तो पूर्ण सुख प्राप्ति कराना है। अत एव उस शङ्काको पूर्वपक्ष-प्रतिपादन-पूर्वक उत्तरपक्षसे सिद्धान्त दिखलाकर ठीक कर लेना ही उचित है। सुनिये, अब प्रकरणका सिद्धान्त, बीज, तथा मङ्गलाचरण तन्त्रसे दिखाते हैं—

साक्षी चिन्मात्ररूपोऽहम्परमात्मा परः शिवः॥
कर्तृताऽकर्तृताऽस्पृष्टः पूर्णकर्ता जयत्यसौ॥ १॥

सर्वदा प्रत्यक्ष देखनेवाला चिन्मात्र-स्वरूप अहं-रूप परमात्मा जो कि परम कल्याण-स्वरूप है, अत एव जो सर्वत्र अहं-रूपसे गोचर हो रहा है। अत एव जो प्रत्यक्ष है। कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व इन दोनोंका जिसको स्पर्श नहीं होता, अतः जो स्वयं सिद्ध पूर्ण-कर्ता है, उसका जयजयकार है। तात्पर्य यह, कि सम्पूर्ण विश्वकी उपपत्ति लगानेकेलिये इसका मूल कोई है, ऐसा तो मानना ही पड़ता है। उसीको नैयायिकादि कर्त्ता कहा करते

है। परन्तु दूसरे वेदान्ती आदि जगत्को भ्रम बतलाकर उसके मूलको अकर्त्ता ठहराया करते हैं। तात्पर्य यह, कि जगत् भ्रम हो, या सत्य, इसका मूल तो अवश्य ही कुछ न कुछ निर्भ्रान्त सत्य है, यह बात स्वयमेव प्रकट हो जाती है। इस बातको दूसरे प्रकरणमें भली भांति दिखलाया गया है। प्रसङ्गसे यह भी दिखलाया गया है, कि सम्पूर्ण बातों से अर्थात् कल्पित, दृश्यमान, या भासमान कह लीजिए, सभी वस्तु-मात्रसे उनके नाना प्रकार रूपान्तरित होनेसे एक ही बात, जो कि मूल है, वह अवश्य ही कुछ न कुछ ज्ञात हो ही जाती है। इस बातको भी दूसरे प्रकरणमें कहा गया है। सम्पूर्ण जगत्को अर्थात् सौषुप्त, स्वाप्न, तथा जाग्रत्क जगत्को, स्थूल, सूक्ष्म तथा अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टिसे देखने पर यह ज्ञात हो जाता है, कि सम्पूर्ण 'अहम्'से परिपूर्ण है। अर्थात् 'अहम्' ही है। द्वैत-दृष्टिमें 'अहम्'से प्रक्षालित है, परन्तु अद्वैत-दृष्टिमें अहमतिरिक्त मृग-जल होनेके कारण 'अहम्' ही है। परन्तु इससे भी ये अर्थात् कल्पित आपेक्षिक हैं। अथच अद्वैत इन दोनों-

को समरस परिपूर्ण हो देखने पर ज्ञात हो जाता है, कि वस्तुतः क्या है ? इस बातको अनुभवी पुरुष ही जान सकते हैं। किन्तु कहना कठिन है, तथाऽपि यदि कुछ प्रयत्न किया जाए, तो थोड़ा सा कहनेमें भी आ सकता है। अतः यहां यह कह दिया, कि 'अहम्परम्' अर्थात् अहम् उत्कृष्ट, जिसमें है, अथवा 'अहम्'से जो उत्कृष्ट है। तात्पर्य यह है, कि ओतप्रोत-भावसे एक ही वस्तु है, तथा वह परशिव कही जाती है। अर्थात् पञ्चम प्रकरणमें कहे छत्तीस तत्त्वका पर स्वरूप शिव अर्थात् कल्याण-स्वरूप, एवं आत्म-स्वरूप है। यह चिन्मात्र-रूप है। अर्थात् जो जो प्रकाशमान है, वह सब यही है, प्रकाशमानसे अतिरिक्त तो कुछ भी नहीं है, कि जिस विषयमें शङ्का या समाधान किया जाए। अस्तु। यह आत्म-तत्त्व साक्षी है। तात्पर्य यह, कि पञ्चम प्रकरणमें चौदहवीं कारिकामें दीपकका दृष्टान्त देकर साक्षित्वका निरूपण किया गया है। अब इसी कारण लोग कर्त्ता तथा दूसरे अकर्त्ता कह कर आपसमें झगड़ा करते रहते हैं। परन्तु आत्म-तत्त्व एकरस

द्वितीय होनेसे कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व इन दोनों भावोंसे छुआ तक नहीं जाता। परन्तु यह आत्मविलास-रूप होनेके कारण छुआ सा ही सर्वदा दिखाई देता है। इसी कारण तो इतने मत मतान्तरके कलह होते हैं। अत एव इसको विलास कहना पड़ता है। सम्पूर्ण शङ्काओंको मिटाना यह भी विलास-मात्र होनेके कारण आत्म-तत्त्वको पूर्ण-कर्त्ता ऐसा कहा गया है। इस प्रकरणमें इसी एक बात पर विशेष-रूपसे विचार किया जाएगा। हां, हम इस बातको कई बार कह चुके हैं, कि आत्मतत्त्व परिपूर्ण है, अर्थात् जब वह विश्व-दृष्टिसे देखा जाता है, तब ऐसा ज्ञात होता है, कि सभी क्रियाएं अर्थात् सभी शक्तियां क्रमसे, अक्रमसे तथा विक्रमसे कभी कल्पित-रूपमें, अर्थात् आपेक्षिक प्रकाश-रूपमें, तो कभी अप्रकाश-रूपमें विलास हो रही हैं, या कर रही हैं, या जान रही हैं, कुछ भी कह लीजिये। हां, यहां इस बात-को भी समझ रखना चाहिये, कि स्वभाव-शक्ति अर्थात् जो सर्वदा आत्म-स्वरूप ही है, वह विलास है। तथा उसीके एक-मात्र अधिष्ठान पर उसीके कारण, या उसी-

की फल-स्वरूप इच्छा आदि अनन्त शक्तियां हैं, वे सब साधारण विभाग करने पर अर्थात् समझनेकेलिये तीन भागोंमें बँटती हैं। अत्यन्त स्थूल शक्तिका नाम क्रिया, उससे सूक्ष्म शक्तिका, अर्थात् सूक्ष्म अवस्थाका, नाम ज्ञान हो सकता है। तथा उससे भी सूक्ष्म शक्तिका नाम इच्छा हो सकता है। एवं इन तीनोंमें अनुगत महा-कारण-रूप शक्तिको विलास कहते हैं। यह भी इन कल्पित तीनके कारण चौथी विलास है। तथा विलासकी ही परा काष्ठाको समझनेकेलिये परमात्मा या परशिव नाम रखा गया है। वस्तुतः विलास तथा आत्मा भिन्न नहीं। यही क्यों? इच्छादिक भी, कोई कुछ भी पृथक् नहीं है। परन्तु यह रहस्य विना सद्गुरुकी उपासनाके, प्राप्त नहीं होता, इस बातको अन्य प्रकरणोंमें कह दिया गया है। अस्तु। यहां पर विलास का विचार अर्थात् वह है या नहीं। तथा क्यों है? अर्थात् उसका फल, उद्देश, तथा कारण, क्या है? तथा वह विलास कैसा है? इन बातों-का विचार नहीं करना है। कारण वह दूसरे प्रकरणमें कर दिया है। ऐसे ही इच्छा-शक्तिका सब प्रकारसे

विचार करके, कल्पिताऽकल्पित परिपूर्ण समझने तथा आत्म-दृष्टिसे समझानेकेलिये उसको पूर्ण स्वातन्त्र्य निर्दिष्ट कर साङ्गोपाङ्ग उसका विचार तीसरे प्रकरणमें कर दिया है। ज्ञान-शक्तिका साङ्गोपाङ्ग विचार चौथे प्रकरणमें किया गया है। अनन्तर प्रासङ्गिक उसी आत्म-स्वरूपकी जागतिक तत्त्वोपपत्ति समझानेकेलिये तथा कर्माऽकर्मादि-विचारकेलिये पूर्ण-नैर्मल्यका साङ्गोपाङ्ग विचार पञ्चम प्रकरण में किया गया है। तीसरी शक्ति अर्थात् शक्तिका या आत्म-स्वरूपका कहिये, पूर्ण स्थूलताका मूल जो क्रिया-शक्ति अर्थात् शक्तिकी स्थूल दशाका नाम ही क्रिया-शक्ति है। इस बातको हम कह चुके हैं। उसी क्रिया-शक्तिके कारण जो कुछ आरोप होते हैं, उनका भली भांति विचार करनेकेलिये यह प्रकरण आरम्भ किया जा रहा है। अस्तु। अब यह देखना है, कि यह क्रिया-शक्ति क्या है ? सुनिये— इस क्रिया-शक्तिके कारण ही कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व इन दोनों भावोंका आत्म-स्वरूपमें विलास होता है। यदि क्रिया-शक्तिका निकास न हो तो कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व

उपपन्न नहीं हो सकता। विश्वमें अर्थात् आत्म-स्वरूपका नाना-अवस्थामें, या यों कहिये कि विश्व-दृष्टिमें आत्म-स्वरूपके पूर्ण विकासिताऽवस्थामें क्रिया-शक्तिका ही सर्वत्र बोलबाला है, अनन्तर तूतीकी आवाज़ नक्कार-खानेमें कौन सुने ? इसी प्रकार सूक्ष्म शक्तियोंकी स्थिति रहती है। यद्यपि जिनकी श्रवण-शक्ति तथा मनन-शक्ति एवं निदिध्यासन-शक्ति पूर्ण-रूपसे विकसित होती हैं, उनको तो सब कुछ ज्ञात हो जाता है। किन्तु साधारण तो क्रिया-शक्तिको ही देखा करते हैं। अत एव अत्यन्त स्थूल-बुद्धि अर्थात् क्रिया-शक्ति-प्रधान लोगोंको क्रमसे आत्म स्वरूप-प्रदर्शनकेलिये, सत्तत्त्वको प्रकट करनेकेलिये अर्थात् इस सब विश्वका मूल कारण एक है, तथा वही पालन, पोषण, तथा संहार निमित्त-कारण हो कर करता है, इस प्रकार गौतम, कणाद, आदि आचार्य समझाते हैं। तथा बहुत अर्थात् आनन्द-तत्त्वको प्रकट बतलानेकेलिये विशिष्ट अधिकारियोंको अर्थात् इच्छा-प्रधान-पुरुषोंको समझानेकेलिये वेदान्ती लोग विश्वको मृग-जलके समान मिथ्या समझाते हुए आत्मतत्त्वको

अकर्त्ता कह कर समझाते हैं। तथा इन दोनोंके वीच रहनेवाले जो कि ज्ञान-प्रधान पुरुप हैं, जो कि विश्वको ज्ञान-शक्तिके ही विकाससे विकसित देखते हैं, उनको आत्म-स्वरूप समझानेकेलिये प्रकृति-पुरुप-विवेक, तथा ईश्वराऽनुग्रहसे उसका होना, इस वातको अर्थात् आत्म-स्वरूपकी चिन्ताको प्रकटित करनेकेलिये साङ्ख्य तथा योगी प्रयत्न करते हैं। परन्तु ये सभी वातें सीमित होने-के कारण परमात्म-स्वरूपको पूर्ण-रूपसे समझानेकेलिये पूर्ण-दृष्टिसे, निराशंस पुरुषोंको उनकी पूर्ण-कामताकी अविचलित एक-रस आत्म-स्वरूपाऽवस्थिति रखनेकेलिये आरम्भ, परिणाम, तथा विवर्त्त, इन तीनोंसे अतीत या निर्विवाद स्वयं सिद्ध अनुभवसे सिद्धसम्प्रदायाऽनुसार यह प्रकरण लिखा है। अत एव सर्वदा सर्वत्र 'अहम्' रूपसे परिपूर्ण पराशिवका विजय है। तात्पर्य, कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व समरस भावसे हमारा अपना स्वरुप है। ऐसे परमात्म-स्वरूपको पूर्ण-कर्ता कहा गया है। अस्तु ॥१॥

अव आगे सुनिये—

वदन्ति केचिदात्मानमकर्तारं तथाऽपरे ॥
विश्वकर्तारमिति तत् वस्तुतो द्वयमप्यसत् ॥ २ ॥

कोई लोग आत्म-स्वरूपको अकर्ता कहते हैं। तथा दूसरे लोग विश्वका कर्त्ता कहते हैं। वस्तुतः दोनों ही बातें असत् ही हैं, अर्थात् कल्पित-मात्र हैं। तात्पर्य यह, कि वेदान्ती लोग विश्वको आत्मामें मृग-जलके समान भ्रम बतलाकर कहते हैं, कि विश्व जब वस्तुतः उत्पन्न ही नहीं हुआ, तब आत्म-स्वरूपको कर्त्ता कैसे कह सकते हैं? अतः उनका कहना है, कि आत्मा अकर्त्ता है। एवमेव दूसरे यह कहते हैं, कि जगत्को असत् क्यों मानना? वह कहते हैं, कि जगत् असत् नहीं सत्य है। इसी कारण तो हम सम्पूर्ण व्यवहार करते हैं। हां, एक बात यह है, कि वस्तुतः इसकी अपनी कोई सत्ता पृथक् नहीं है। तथा अन्तमें यह बात ठीक भी जंचती है, परन्तु साधारण पुरुष इस बातको नहीं समझ सकते। उन्हींको क्रमशः वह अधिकार पानेकेलिये अर्थात् उस बातको समझानेकेलिये हम जगत्को सत्य मान कर यही कहेंगे कि विश्व-व्यवहार चलानेकेलिए किसी

नियन्ताकी आवश्यकता है। अन्यथा सारा विश्व नियमित-रूपसे काम न करेगा, तथा यत्र तत्र सर्वत्र उथल पुथल हो जाएगी। परन्तु देखनेमें तो ऐसा आता है, कि तिनकेसे लेकर पहाड़ तक तथा कीड़ी मकौड़ीसे ले कर ब्रह्मा पर्यन्त सभी अपने अपने काम यथाऽवस्थित कर रहे हैं। तात्पर्य यह, कि सम्पूर्ण विश्वकी ओर देखनेसे ज्ञात होता है, कि सभी वस्तुओंमें संय्योजक-वियोजक एक कार्य-कारण-भाव वर्त्तमान है। अत एव इस कार्य-कारण-भाव का नियमित-रूपसे उपयोग करनेवाला एक कोई इससे आक्षिप्त होता है। इसी वास्ते गौतम-मताऽनुयायी तथा कणाद-मताऽनुयायी कहते हैं, कि नित्य द्रव्योंसे सय्योजन-वियोजनादि शक्तियों-से अर्थात् ज्ञानसे ज्ञानाऽधिकरण ज्ञानी आत्मा, इस सम्पूर्ण विश्वका सृष्टि आदि किया करता है। अतः आत्माको विश्वकर्त्ता कहना चाहिये। अस्तु। परन्तु हम यह बात कहते हैं, कि ये सब बातें आपेक्षिक अर्थात् कल्पित होनेके कारण असत् हैं। कल्पितकी जब आत्म-स्वरूपसे अतिरिक्त कोई सत्ता ही नहीं तब उसका

कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व कहां हो सकता है? अर्थात् किसमें हो सकता है? हां, असद्-दृष्टिमें अर्थात् अपूर्ण-दृष्टिमें, अर्थात एकदेशि दृष्टिमें भले ही वैसे आरोप होते हों, वस्तुतः अर्थात् समरसतामें यह सब कैसे पृथक् जीवित रह सकते हैं? अस्तु ॥२॥

उक्त बातको विस्तारपूर्वक समझाते हैं। सुनिए—

अकर्तृत्वे जडत्वं स्यात् कर्तृत्वे द्वैतमापतेत् ॥
अद्वितीये स्वात्ममात्रे कर्तृताऽकर्तृते कथम् ॥ ३ ॥

यदि आत्मा अकर्त्ता माना जाए, तब जड़ हो जाएगा। तथा कर्त्ता माना जाए, तो द्वैत हो जाएगा, केवल, द्वैतसे रहित आत्म-स्वरूपमें कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व ये कैसे रह सकते हैं? तात्पर्य यह है, कि आत्माको अकर्त्ता कहने वालोंको यह पूछते हैं, कि आत्मा अकर्त्ता क्यों? क्या वह कुछ कर नहीं सकता, इस कारण? या कुछ करता नहीं इस कारण? यदि यह कहो कि यह कुछ कर नहीं सकता, तो इस बातको माननेकेलिये कोई भी विद्वान् तैयार नहीं, तथा सारे ग्रन्थ इससे विरुद्ध हैं। एवं अनुभव भी इस बातको स्वीकार नहीं करता।

दूसरी बात यह भी है, कि ऐसी स्थितिमें उसको जड़ कहना पड़ेगा। अर्थात् कर नहीं सकता, यह बात तो हो नहीं सकती। रह गई बात दूसरी, कि कर नहीं सकता है, पर करता नहीं। इसका कारण क्या? क्यों नहीं करता? इस बातका 'नहीं करता' ऐसा उत्तर तो नहीं बनता। प्रत्युत शक्तिका उपयोग ही नहीं करता, इसमें क्या प्रमाण है। अर्थात् प्रत्यक्ष आदि किसी भी प्रमाणसे सिद्ध करनेकेलिये आपके पास कोई सामर्थ्य नहीं, कि आप कहें, कि वह नहीं करता। इस पर भी यदि ऐसाही आग्रहसे कहोगे कि ऐसा ही है, कि 'नहीं करता' तो जड मानना पड़ेगा। कारण यह कि, सम्पूर्ण विश्व, भ्रमरूपसे भी दिखाई न पड़ेगा। परन्तु आप यह तो मानते ही हो, कि जगत् भ्रम है, अतः दोनों प्रकारसे अकर्त्ता कहने पर आत्म-स्वरूपको जड़ कहना होगा। एवंच आत्म-स्वरूपको अकर्त्ता कहना ठीक नहीं। अब यदि आत्म-स्वरूपको कर्त्ता कहा जाए तो द्वैत होगा। अर्थात् यावत्-काल कार्यकी पृथक्ता न स्वीकार की जाए, तावत्काल

कर्तृत्व सिद्ध नहीं हो सकता। अथच ऐसे आपेक्षिक दशामें अपूर्णता-दोष आता है। इसका विवरण आगे किया जाएगा। यहां तो इतना ही समझिये कि द्वैत ही मान कर, अथच तदनन्तर विश्वका कर्ता यदि आत्म-स्वरूपको माना जाए, तो इस मतमें बहुत दोष आते हैं। इस विषयमें हम तीसरे प्रकरणमें कह चुके हैं। अतः कर्ता कह नहीं सकते। द्वैत तो सिद्ध ही नहीं होता। आत्म-स्वरूप अद्वितीय केवल है, इस बातको हम दूसरे प्रकरणमें सिद्ध कर चुके हैं। अतः अद्वितीय समरस आत्मामें कर्तृत्व तथा अकर्तृत्वका सम्बन्ध कहां हो सकता है? अर्थात् आत्म-स्वरूपाऽतिरिक्त कर्तृत्व एवं अकर्तृत्वकी शङ्का ही जब नहीं होती, तब उसका सम्ब-न्ध कैसा? तात्पर्य यह है, कि कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व ये दोनों भी आत्म-विलास-मात्र हैं, दूसरी वस्तु नहीं ॥३॥

यद्युच्येत श्रुतावुक्तः कर्तृत्वाऽभाव आत्मनः ॥
कर्तृत्वमपि तत्रैव प्रोक्तं तदपि दृश्यताम् ॥ ४ ॥

यदि यह कहा जाए, कि आत्मा कर्त्ता नहीं है,

ऐसा वेदोंमें लिखा है, तो यह भी देखो कि आत्मा कर्त्ता है, यह भी बात उन्हीं वेदोंमें लिखी है। तात्पर्य यह, कि यदि ऐसा कहा जाए, कि वेदमें आत्माको कर्तृत्वका अभाव लिखा है। अर्थात् आत्मा कर्तृत्वाऽभाववान् है, ऐसा वेदोंमें लिखा है। अतः आत्माको अकर्त्ता ही कहना चाहिये। कारण वेदोंसे बढ़कर अन्य कोई प्रमाण नहीं हो सकता। इस पर हम यह कहते हैं, कि अरे कर्तृत्व भी तो उसी वेदमें लिखा है? उसको भी देखो न। तात्पर्य यह, कि यदि वेदोंके प्रमाणसे यह कहा जाए, कि आत्मा अकर्त्ता है, तो इस पर कर्तृत्ववादि कहते हैं, कि आत्मा कर्त्ता है, यह बात भी वेदोंमें ही लिखी है। एकको कल्पित समझना तथा अन्यको अकल्पित समझना अर्थात् वेदका कुछ अंश प्रमाण मान लेना तथा कुछ अंशको अप्रमाण कहना, यह बात तो ठीक नहीं, यदि यह कहो, कि हमने सम्पूर्ण वेदोंका समन्वय करके पश्चात् इस बातको सिद्धान्तित किया है, कि आत्मा अकर्त्ता है, तो दूसरे कहते हैं, कि हमने भी सम्पूर्ण वेदोंका समन्वय करके ही आत्मा को

कर्ता ठहराया है, तो इस प्रकार ये दोनों वाद मिट नहीं सकते अतः सम्पूर्ण वेदोंका समन्वय करते हुए आत्माऽनुग्रहसे निर्विवाद सिद्धान्त क्या है ? इस बातको देखना होगा ॥४॥

अच्छा, अब हम देखेंगे, सुनिये—

ननु यद्वस्तु नास्त्येव कर्तृता तन्निरूपिता ॥
कुत्र वाऽऽराप्यतामेवमकर्ताऽऽत्मेति चेत्तदा ॥ ५ ॥

यदि ऐसा कहा जाए, कि जो वस्तु है ही नहीं, तन्निरूपित कर्तृत्वका आरोप कहां किया जाएगा ? बस अत एव आत्मा अकर्त्ता है, तो हम इसका उत्तर भी देते हैं। तात्पर्य यह है, कि अकर्तृत्व-वादी कहते हैं, कि आत्माको विश्वका कर्तृत्व आ नहीं सकता। कारण यह, कि विश्व जब कोई वस्तु-सत् हो, तब तो इसके कर्त्ताकी शङ्का या उत्तर हो सकता है। अर्थात् जब विश्व कोई वस्तु ही नहीं, तब उसमें रहने वाली जो कार्यता तन्निरूपित जो कर्तृता, उसका आरोप कहां हो सकता है ? जैसे आकाशमें फूल कभी हुआ ही नहीं, अर्थात् आकाश-पुष्प है ही नहीं, न उसको किसीने

देखा, न सुना, तब उसको बनानेवाला कौन हो सकता है ? अर्थात् आकाश-पुष्पका कर्तृत्व किसी में नहीं आ सकता । अतः यदि कोई मनुष्यादिक हैं भी, तो भी उस मनुष्यादीको आकाश-पुष्पका कर्त्ता कहनेमें नहीं आता, न कहा जा सकता है । इसी प्रकार सद्-वस्तु जो आत्मा वह अत्यन्त असत् जगत्का कर्त्ता नहीं हो सकता ॥५॥

यदि ऐसा ही मान लो, तो हम यह कहते हैं, सुनिये—

यथा शशविषाणस्य कर्ता केनापि नेष्यते ॥
जगतोऽपि तथा कर्ता नास्तीति मनुतां भवान् ॥ ६ ॥

जैसे ससेके सींगके कर्त्ता को कोई भी नहीं चाहता, वैसे ही जगत्का भी कर्त्ता नहीं ही है, ऐसा ही आप मान लो । तात्पर्य यह, कि जगत्में ससेका सींग कभी देखा सुना नहीं गया, इसी कारण उसके बनानेवालेको कोई भी नहीं चाहता, अर्थात् उसका बनानेवाला भी कोई है, ऐसा कोई नहीं चाहता, तात्पर्य यह कि ससेके सींगके बनाने वालेको कोई भी नहीं ढूँढता । प्रत्युत ऐसा कहते हैं, कि वह कोई है ही नहीं । अर्थात्

उदासीन व्यक्ति माननेकी कोई आवश्यकता नहीं। जिस पदार्थकी सत्ता ही नहीं, उससे कार्य-कारण-भाव ही किसीका नहीं, तब कर्ताकी सम्भावना कहां ? अर्थात् कर्ता भी ससेके सींगके समान ही है, अर्थात् वह भी है नहीं। बस हम तो तुम्हें यही सम्मति देंगे, कि इसी प्रकार जगत्का कर्ता भी असत्, ऐसा ही तुम मान लो। कारण, जब ससेके सींगके समान जगत् उत्पन्न ही नहीं होता, न है, न होगा, तब उसके साथ किसीका कार्य-कारण-भाव भी नहीं है, तब उसका बनानेवाला परमात्मा है, यह बात भी सिद्ध नहीं होती, अर्थात् तुम यह कह दो, कि परमात्माके अस्तित्वको हम नहीं मानते, अर्थात् नास्तिक बन जाओ। हां, इसकी सिद्धि अर्थात् परमात्म-सिद्धि कैसी होती है, इस बातको द्वितीय प्रकरणमें दिखाया गया है। अस्तु। इस प्रकार अकर्ता कहनेसे काम नहीं बनता, कारण यह, कि इस बातको, कि परमात्मा है, वह कर्ता है, या अकर्ता है, कुछ भी मानने पर "मैं हूं", इस बातको तो मानना ही पड़ेगा। यदि यह कहा जाए, "मैं हूं" परन्तु परमात्मा

नहीं, अर्थात् जगत्का बनाने वाला कोई नहीं, तो यहां यह प्रश्न होगा कि "मैं हूं" कहने वाले तुम कौन हो ? तथा कैसे हो ? एवं यहां आकर अपना जड़त्व मिटानेकेलिए 'मैं चेतन-रूप हूं' इस बातको सिद्ध करनेकेलिये फिर अपने आपका पूर्णत्व स्वतन्त्रत्व आदि मानना ही पड़ेगा । तब पुनः यह क्या ? कि आत्म-स्वरूप अकर्त्ता है, यह नहीं बनता ॥६॥

यदि ब्रवीषि विज्ञाताऽस्म्यहम्प्रत्ययगोचरः ॥
सर्वथा वर्त्तमानोऽहमकर्तैव न संशयः ॥ ७ ॥

यदि कहते हो कि 'मैं हूं' इस प्रकार 'अहम्'ज्ञान से प्रत्यक्ष अनुभव करने वाला सर्वथा मैं वर्तमान ही हूं, मैं निःसंशय अकर्ता ही हूं । तात्पर्य यह, कि आत्म-स्वरूपको है सिद्ध करनेकेलिए किसी भी दूसरे प्रमाण-की आवश्यकता ही नहीं है, यह तो स्वयं सिद्ध है । क्योंकि, 'अहम्' यह जो ज्ञान है, इस ज्ञानसे जो प्रत्यक्ष है । अर्थात् इसका जो अनुभव करने वाला मैं सर्वदा सब प्रकारसे वर्त्तमान ही हूँ । अर्थात् आत्म-सत्तामें कोई बाधा ही नहीं । तथा जगत् तो है ही नहीं, इसलिये उस-

का कर्ता भी मैं नहीं। अत एव आत्म-स्वरूप अकर्ता ही है, इसमें कोई संशय नहीं ॥७॥

ऐसा कहो तो यह कहना ठीक नहीं। कारण—

एवं वदन् भवान् सत्यं जडात्मा नैव संशयः॥
प्रत्यक्षचिन्मात्ररूपस्वात्माऽनुग्रहवञ्चितः॥ ८॥

ऐसा कहने वाले आप सच-मुच जड-स्वरूप हैं, इसमें कोई संशय नहीं। प्रत्यक्ष चिन्मात्र-रूप अपने आत्म-स्वरूपके अनुग्रहसे वञ्चित हो। तात्पर्य यह, कि यह जो आप कह रहे हो, कि "मैं आत्म-स्वरूप सर्वथा वर्तमान ही हूं, तथा अकर्ता ही हूं" कारण, मैं कुछ करता ही नहीं। जो कुछ विश्व है, यह तो भ्रम-मात्र है। अतः उसका कर्तृत्व मुझमें नहीं आता तथा, 'मैं हूं' इस बातको तो मेरा अपना निजी अनुभव है। ऐसा कहनेवाले आप सच-मुच कुछ भी नहीं हो। अर्थात् अत्यन्त जड़ हो, कारण, प्रत्यक्ष चिन्मात्र-रूप अपने आप आत्म-स्वरूपका अनुग्रह आप पर हुआ ही नहीं। उससे ठगे गये हो। तात्पर्य यह, कि अपने आपको विज्ञान-स्वरूप मान कर कर्ता न

मानना, इसका कारण क्या ? सिवा चिन्मात्र-रूप आत्माऽनुग्रहकी वञ्चनाके क्या हो सकता है ? कारण, विज्ञान ही जब पूर्ण विकसित होता है, तब उसीको उसी-का अनुभव करने वालेको कर्ता कहा जाता है। भला विज्ञानका पूर्ण विकास आपमें क्यों नहीं हुआ ? न होने-का कारण कुछ तो बतलाना ही पड़ेगा ? यदि पारतन्त्र्य हो तो हम यह कहते हैं, कि तुम परतन्त्र चेतन कैसे हो सकते हो ? अर्थात् तुम्हें पूर्ण स्वतन्त्र कैसे कहा जाए ? अतः तुम जड़ हो, तभी अपने आपको कर्ता माननेसे हिच-किचाते हो। ठीक है, कारण, पूर्ण-चित्-स्वरूप आत्माऽनुग्रह तुम्हें नहीं प्राप्त हुआ। अतः ऐसा ही होना ठीक है। इस बातसे यह बात सिद्ध हो गई, कि आत्माको अकर्ता माननेसे ठीक नहीं होता, या यों कहिये, कि अकर्त्ता आत्म-स्वरूप हो ही नहीं सकता, कारण कर्तृत्व सर्वत्र पूर्ण व्याप्त है। हां, यह बात पृथक् है, कि कहीं विकसित है, तो कहीं अविकसित है। जहां पूर्ण विकसित है, आत्म-स्वरूप तो वही है, अर्थात् आत्म-स्वरूप पूर्ण-कर्तृत्व-रूप है ॥८॥

हम अब दूसरे प्रकारसे भी समझाएंगे। सुनिए—

अकर्तृत्वं पुनः किं ते कर्तृत्वाऽभाव एव चेत् ॥
अकर्तृत्वं न सिद्ध्येत्ते कर्तृत्वज्ञानमन्तरा ॥ ६ ॥

हम यह पूछते हैं, कि तुम्हारे कथनाऽनुसार आत्म-स्वरूप अकर्ता ही मान लिया, पुनरपि तुम्हारा कहना तुम्हारे ही कथनाऽनुसार ठीक नहीं है। देखो अकर्तृत्व तुम्हारा क्या है ? यदि कर्तृत्वाऽभाव ही हो, तो कर्तृत्व-ज्ञानके विना अकर्तृत्व तुम्हारा सिद्ध न होगा। तात्पर्य यह, कि तुम जो कहते हो, कि आत्म-स्वरूपमें अकर्तृत्व है, तो भला यह तो बतलाओ कि तुम्हारा वह अकर्तृत्व पुनः क्या है ? अर्थात् उसका व्याख्यान करो। तब यदि यह कहोगे, कि अकर्तृत्व अर्थात् कर्तृत्वका अभाव, ऐसा कहनेसे तुम्हारा अकर्तृत्व अर्थात् आत्म-स्वरूपमें अकर्तृत्व सिद्ध नहीं होगा। कारण तुम्हें कर्तृत्वका ज्ञान नहीं है। तात्पर्य यह है, कि कोई भी वस्तु है या नहीं है, दोनों बातें कहनेकेलिये उस वस्तुके ज्ञानकी अपेक्षा होती है। इनमेंसे एकको अपेक्षा तथा दूसरेको अनपेक्षा ऐसा कहना नहीं बनता, कारण, जैसे जिसको

घटका ज्ञान ही नहीं है, उसको यदि यह कहा जाए, कि अरे ! जाओ उस घरमें देखो कि वहां घट है, कि नहीं ? इस पर वह पुरुष जाकर है या नहीं, इसका निर्णय नहीं बतला सकता; प्रथमतो यह बात है, कि वह पुरुष उसके कहने पर उसी समय कहता है, कि मैं तो 'घट क्या होता है' इस बातको ही नहीं जानता, तो 'घट है कि नहीं' मैं क्या कहूँगा ? बस ऐसे ही जो आत्म-स्वरूपको ही नहीं जानता, वह कर्त्ता या अकर्त्ता यह बातें कैसे कह सकता है ? या यों कहिये, कि जो जगत्को ही नहीं जानता, वह क्या कह सकता है ? कि इसका बनानेवाला कोई है, या कोई नहीं है ? एवमेव किसीको अकर्त्ता ठहरानेकेलिये पहले, कर्त्ता क्या होता है ? इस बातको जानना आवश्यक है। अर्थात् 'घट नहीं है' कहनेकेलिये घट-ज्ञानकी पहले आवश्यकता है। जिसको घट-ज्ञान ही नहीं, वह 'यहां घट नहीं है' ऐसा नहीं कह सकता, यदि आग्रहसे कहेगा तो उसका कोई नहीं मानेगा। कारण, वह मूर्ख है। बस वैसे ही आत्माके कर्तृत्व-ज्ञानके बिना अकर्तृत्वका ज्ञान ही नहीं सिद्ध होगा। अतः आत्मा

अकर्त्ता है, ऐसा जो आप कह रहे हैं, यह असङ्गत है ॥ ९ ॥

कर्तृत्वज्ञानरहितोऽकर्तृत्वज्ञानवान् भवान् ॥
एकाङ्गविकलत्वेन गुर्वनुग्रहमर्हति ॥ १० ॥

कर्तृत्व-ज्ञानसे रहित अकर्तृत्व-ज्ञानवाले आप एका-ङ्ग-विकल होनेसे गुरु-कृपाके योग्य हो। तात्पर्य यह, कि यद्यपि कर्तृत्व-ज्ञानके विना अकर्तृत्व-ज्ञान ही नहीं हो सकता, यह बात जान बूझ कर भी हठसे यह कहो कि हमें कर्तृत्व-ज्ञानके विना ही अकर्तृत्व-ज्ञान है, तथा अकर्तृत्व-ज्ञानवान् हम हैं, कर्तृत्व-ज्ञान हमें नहीं। तात्पर्य यह, कि हम आत्म-स्वरूपको अकर्तृत्व-ज्ञानवान् ही कहेंगे, अर्थात् 'मैं जानता हूँ तथा अनुभव करता हूँ, कि अकर्त्ता ही मैं हूँ, कर्त्ता नहीं' ऐसा यदि हठ करेंगे तो हम आपको यह कहते हैं, कि अभी आपमें एक अर्थात् मुख्य अङ्गकी विकलता है। अर्थात् अभी आप मुख्य बातसे ही अपूर्ण हो। अतः गुरुजीके अनुग्रहके योग्य हो। तात्पर्य यह, कि अभी गुरु-कृपा आप पर नहीं हुई है। तभी ऐसा हठ कर रहे हो। अपूर्णतामें

निर्णय देनेका अधिकार ही नहीं होता। निर्णयका अर्थ ही यह है, कि अन्तिम बात, अन्तिम निश्चय यावत्काल निचली बातें पूरी जान न ली जाएं, या ऊपरली बातें वर्तमान हैं, तो उसको निर्णय कैसे कहा जाएगा? अतः आपका हठसे अकर्त्ता कहना ठीक नहीं जँचता ॥१०॥

कर्तृत्वज्ञानसहितोऽप्यकर्ता यदि चेद्भवान्॥
पूर्णकर्ता चित्स्वरूपः साम्प्रतं भाति सुन्दरः॥ ११॥

कर्तृत्व-ज्ञानसे युक्त यदि आप हैं, तब तो चित्स्वरूप आप इस समय अर्थात् सर्वप्रकारसे पूर्ण कर्त्ता सुन्दर चमक रहे हो। तात्पर्य यह है, कि कर्तृत्व-ज्ञान होते हुए आप अकर्त्ता हो कर रहें, तब तो आप वर्त्तमान समयमें चित्स्वरूप पूर्ण-कर्तृरूपसे सुन्दर होकर चमक रहे हैं। तात्पर्य यह है, कि जब आपको कर्तृत्व-ज्ञानके साथ अकर्तृत्व-ज्ञान हो जाए, तब तीनों कालोंका अनुगत निदान-भूत जो वर्त्तमान महाकाल, उस रूपसे अभिन्न होकर आप चित्स्वरूप होनेके कारण पूर्ण-कर्तृत्वका अनुभव करते हुए सुन्दर अर्थात् परम शिव-रूप हो चमकोगे। अनन्तर सर्वत्र परिपूर्णता ही परिपूर्णता आत्म-

स्वरूपकी विलसित होगी, या यों कहिये, कि कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व इन दोनोंके अधिष्ठान-भूत आप चित्स्वरूपताका अनुभव होनेसे पूर्ण-कर्त्ता हैं। अत एव अब आप बड़े सुन्दर अर्थात् परशिव-स्वरूप होकर चमक रहे हैं। बात यह है, कि कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व, इन दोनों आपेक्षिक ज्ञानोंके होने पर भी कोई विरोध नहीं ॥११॥

देखिये अब यह भी आपको समझाए देते हैं—

यथा कर्ताऽहमित्येतत् तथाऽकर्ताहमित्यपि ॥
कर्तृताऽकर्तृते हित्वा ज्ञानं ज्ञानतयाऽपृथक् ॥ १२ ॥

जैसे "मैं कर्त्ता हूँ" इस प्रकारका यह ज्ञान है, वैसे ही "मैं अकर्त्ता हूँ", यह भी ज्ञान ही है। कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व इन दोनों अंशोंको छोड़ कर ज्ञान-रूपसे दोनों एक ही हैं। तात्पर्य यह है, कि "मैं कर्ता हूँ" या "मैं अकर्ता हूँ" ये दोनों बातें ज्ञान-स्वरूप ही हैं। यद्यपि 'मैं कर्त्ता हूँ' यह ज्ञान 'मैं अकर्ता हूँ", इस ज्ञानका विरोधि है, एवमेव "मैं अकर्त्ता हूँ" इस ज्ञानका, "मैं कर्त्ता हूँ", यह ज्ञान विरोधि है। परन्तु उस ज्ञान पर, अर्थात् ज्ञानके आश्रयसे भासित

होनेवाले कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व दोनों भाव मिटा दिये जाएं, अर्थात् दोनोंको ही ज्ञान-रूपसे देखा जाए, तो ज्ञात हो जाएगा, कि यह वस्तु एक ही है। जैसे घट तथा शराव, इन दोनोंको यदि घट तथा शराव, इन दोनों भावोंको छोड़ कर वस्तुतः देखा जाए, तो ज्ञात हो जाएगा, कि दोनों ही एक मिट्टी हैं। तात्पर्य यह, कि कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व ये दोनों परस्पराऽवलम्बी एवं परस्पर-विरोधी कल्पित-मात्र भाव हैं। अतः मूलमें कोई भेद नहीं हो सकता। अत एव दोनों प्रकारका जिसको ज्ञान हो, तथा वह परिपूर्ण हो, अर्थात् पूर्ण-विज्ञान हो चुका हो। तो वह चित्स्वरूप पूर्ण-कर्त्ता, परशिवके सिवा अन्य क्या हो सकता है? तात्पर्य यह, कि स्वाभाविक विलासका पूर्ण विकास कर्तृत्वमें होता है। तथा उसकी पराकाष्ठाका फल वही है, जो कि उसका निदान है। अर्थात् वह परमात्मस्वरूप ही है। अतः परशिव होना ही ठीक है ॥१३॥

अब इसी बातको, अर्थात् केवल कर्तृत्व तथा केवल अकर्तृत्व मानने वालोंको एक अन्य भी आपत्ति

सहनी पडती है। तथा उसके प्रतीकारका उपाय उनके पास कोई नहीं है। सुनिये हम बता देते हैं, देखिये कैसी अभेद्य आपत्ति है—

> अपूर्णत्वं प्रसज्येत स्वीकारेऽन्यतरस्य तु ॥
> सामानाऽधिकरण्यं न प्रसिद्ध्यति विरुद्धयोः ॥ १३ ॥

दोमेंसे केवल एकको माननेसे अपूर्णता आती है। अथच परस्पर-विरोधी दो धर्मोंका एकत्र रहना हो नहीं सकता। तात्पर्य यह, कि "मैं कर्त्ता हूँ", या "मैं अकर्ता हूँ", इन दोमेंसे एकका ही आत्मामें स्वीकार कर लिया जाए, तो अपूर्णत्व दोप आएगा, तथा श्रुति स्मृति आदि सम्पूर्ण शास्त्र तथा आत्माऽनुभव तो आत्म-स्वरूपको पूर्ण ही समझता है। अर्थात् आत्म-स्वरूप परिपूर्ण है। हां, इस परिपूर्णतामें न्यूनतासे भी न्यूनता नहीं रहती, ऐसी अलौकिक परिपूर्णता है। अतः आत्माको केवल कर्त्ता माननेवाले तथा अकर्तृत्वका विरोध करने वाले, तथा केवल अकर्त्ता मान कर कर्तृत्वका विरोध करने वाले दोनों ही अपूर्णता-दोपसे ग्रस्त होनेके कारण प्रमाण नहीं हो सकते। अब दूसरा दोप यह है, कि

कोई लोग ऐसा कहते हैं, कि परमात्मामें कर्तृत्व भी है, तथा अकर्तृत्व भी है, तो यह बात भी ठीक नहीं। कारण, दो परस्पर विरोधी धर्म एकाऽधिकरणा-वच्छेदसे तथा एकसमयाऽवच्छेदसे रह नहीं सकते। अंधेरा जिस समय एवं जितने स्थानमें रहता है, उतने ही स्थानमें तथा उसी समय प्रकाश रह नहीं सकता। कारण, दोनों परस्पर विरोधी हैं। तात्पर्य यह, जो लोग परस्पर विरोधी पदार्थ आत्म-स्वरूपमें वर्त्तमान हैं, ऐसा कहते हैं, उनको हम पूछते हैं, कि वे पदार्थ किस रूपसे रहते हैं ? जैसे घरके भीतर घट-पटादि परस्पर विरोधी पदार्थ रहते हैं, वैसे रहते हैं ? या दाडिमी-फलके भीतर दाडिमी-फलके बीजोंके समान रहते हैं। यदि यह माना जाए, कि घरमें घट-पटादिके समान, तो यह भी नहीं बनता, कारण, जब घरके भीतर घट तथा पट परस्पर पृथक् ही रहते हैं, तब घर तथा घट इनमें व्याप्य-व्यापक-भाव है, आधाराऽऽधेय-भाव है। अत एव घर, घट नहीं हो सकता, एवं घट, घर हो नहीं सकता। एवमेव घट तथा पटमें भी परस्पर भेद है। ऐसे ही घर के भीतर जितनी ही वस्तुएं पृथक् पृथक् रूपसे दिखाई देती हैं, उन सभी

वस्तुओंसे घरसे भेद रहेगा। भेद रहने पर एकको परिपूर्णता नहीं रह सकती, अर्थात् ऐसी स्थितिमें परमात्माको पूर्ण नहीं कहा जा सकता। अतः परमात्म-स्वरूपमें कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व ये दोनों परस्पर विरोधी धर्म परमात्मासे पृथक्-रूपमें रह नहीं सकते। अब रह गया दूसरा उदाहरण, उसका उत्तर हम अगली कारिकामें देंगे ॥१३॥

> ज्ञानवान् ज्ञानतो भिन्नो नास्त्येवेति तु निश्चितम् ॥
> लेशतोऽपि न शङ्काऽत्र द्वैतस्य समुदेति हि ॥ १४ ॥

ज्ञानवान् ज्ञानसे भिन्न नहीं ही है, यह बात तो निश्चित हो चुकी है। इसमे लेशमात्र भी द्वैतकी शङ्का उत्पन्न ही नहीं हो सकती। तात्पर्य यह, कि यह कहा जाए, कि जैसे दाडिमी-फलमें उसके बीज एक जैसे हो एकत्र रहते हैं, बस ऐसे ही सम्पूर्ण पदार्थ ज्ञान-रूप हो कर परमात्मा के भीतर रहते हैं। जैसे समुद्र में तरङ्ग, बुद्बुद, वीचि, आदि पानीके रूपमें रहते हैं, बस ऐसे ही परमात्म-स्वरूप है, तो यह भी ठीक नहीं, कारण यहां भी द्वैतकी शङ्का हो जाएगी।

तथा द्वैत तो वस्तु-सत् नहीं, वह तो कल्पितमात्र है, इस बातको हम दूसरे प्रकरणमें कह चुके हैं। इस उदाहरणमें एक बड़ा भारी दोष है, वह यह कि ज्ञान-रूप सारे पदार्थ हो कर एकत्र रहते हैं। इसके अर्थ क्या ? यदि वे ज्ञान-रूप हैं तो उनमें परस्पर वैलक्षण्य क्या है? वैलक्षण्यके विना उनकी पृथक्ता नहीं ज्ञात हो सकती। यदि वैलक्षण्य है, तो एक ज्ञान-रूप हो कर इसके अर्थ क्या होंगे ? तात्पर्य यह, कि ऐसे कथन तो उन्मत्त-प्रलाप-मात्र हैं। यदि यह कहो, कि जैसे घटोंमें परस्पर घटत्वेन रूपेण एकता है, इसी प्रकार हम यह कहते हैं, कि ज्ञान-रूपसे सारे पदार्थ एक प्रकार हो कर आत्मामें रहते हैं। इस पर हम यह कहते हैं, कि फिर उनमें पार्थक्य किस बातका ? इस पर यदि यह कहो, कि परिमाण-कृत तथा व्यक्ति-कृत भेद है, तो हम कहते हैं, कि ऐसा मान लेने पर आपका कहना असङ्गत हो जाएगा, तथा कई दोष आ जाएंगे। देखिये, यदि व्यक्तिशः भेद मान लिया जाए, तो यह बतलाना पड़ेगा, कि यह एक व्यक्ति दूसरेसे भिन्न है, कि नहीं ? यदि

भिन्न हैं, तो एक व्यक्तिका दूसरे व्यक्तिमें तादात्म्य-सम्बन्धसे अभाव होनेके कारण जैसे अपूर्णता-दोष आएगा, वैसे ही उस पदार्थके तथा उसका अधिष्ठान परमात्मा इन दोनोंमें भी भेद होनेके कारण अपूर्णत्व-दोष वैसा ही बना रहेगा। परिमाण-कृत तारतम्यसे भेद मानने पर भी वही दोष बना रहता है, तथा उनको अर्थात् आपके मताऽनुसार परमात्मामें रहने वाले अनन्त पदार्थोंमें यदि विकासकालमें भी समानता मान ली जाए, तो व्यवहार नहीं चल सकता, तथा आत्म-स्वरूप-की पूर्णताका अनुभव भी नहीं हो सकता। अतः यह कहना भी ठीक नहीं। हमारे मतमें तो ज्ञानवान् तथा ज्ञान इनका लेशमात्र भी भेद नहीं; ऐसा निश्चित हो चुका है। इस कारण, द्वैत हो ही नहीं सकता। तब द्वैतकी शङ्का भी कैसे होगी? रह गई बात व्यवहारकी उपपत्तिकी, उस विषयमें हम तो यह कहते हैं, कि व्यवहार सम्पूर्ण जैसे वट-वृक्षके बीजमें सम्पूर्ण वट-वृक्ष अर्थात् शाखा, प्रशाखा, पत्र, पुष्प, फल, मूल आदि सभी कुछ रहता है, बस वैसे ही यह सम्पूर्ण एक परमात्मामें

अवस्थित है। अतः यह न तो विशिष्टाऽद्वैत है, न विशुद्धाऽद्वैत है, न द्वैताऽद्वैत है, तब फिर द्वैत-वादकी कथा ही कहां ? हां, अत एव हम यह भी कहते हैं, कि यह परमात्म-स्वरूप इन सभी वादोंका समरस निदान है; तथा इसका उपपादन भ्रम-वादसे भी नहीं होता। कारण, भ्रम क्यों होता है ? इसका उत्तर जब हम लेना चाहते हैं, तो वे भी अर्थात् भ्रम-वादसे अद्वैत-तत्त्वको समझाने वाले भी यही कहते हैं, कि बस सबका अन्तिम या आदिम स्वरूप परमात्माकी सत्ता ही है। तो फिर हम यह कहते हैं, कि पहले भ्रममें डाल कर फिर उसको समझानेकेलिये उसी बातको कहना, जिसका कि हम प्रतिपादन इस ग्रन्थमें कर रहे हैं, क्या यह ठीक है ? बात तो यह है, कि भ्रम-वाद भी क्या, सम्पूर्ण वाद या विवाद सभी आत्माऽऽनन्दकेलिए विकासित या विलापित किये जाते हैं। हां, अत एव हमको किसीसे भी विरोध नहीं। हां, इतना बताए देते हैं, कि ये सारे मार्ग दूर-दूरके हैं। अब जिधरसे इच्छा आए, उधरसे ही अपने आप-

के पास आओ। न आओ, तो भी कोई हानि नहीं, तथा आओ, तो कोई लाभ नहीं। कारण, आना तथा जाना या न आना तथा न जाना सभी विलास-मात्र है, तथा यह समस्त आत्म-स्वरूप ही है। दाडिमके बीजों के समान या घट-पटादिके समान हमारे मतमें किसीकी भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यदि घंटेमें दस वेप किये जाएं, तो क्या वेप करने वाला कुछ दस हो जाता है? अथवा कल्पनासे ही चतुरङ्ग सेना तथा एक बड़ा साम्राज्य उत्पन्न कर लिया जाए, जिसकी आज्ञामें करोड़ों राज्य हों, तथा पुनः दूसरी ही कल्पनामें उन सबोंको विपरीत कर, अपने आपको कल्पनासे ही भिखारी बना दिया जाए, तो क्या हुआ? क्या बना? एवं क्या नष्ट हुआ? कुछ भी नहीं। हां, सब कुछ भी जैसा था, वैसा ही है, एवं वैसा ही रहेगा भी, पुनरपि सारे खेल हो लिये। ऐसा अद्भुत आत्म-स्वरूप है। भ्रम-वादियोंको भ्रम-भ्रम चिल्लानेमें आनन्द आता है, पर इससे आत्म-स्वरूपकी क्या हानि? अथवा क्या लाभ? तात्पर्य यह, आपेक्षिक लाभ अथवा हानि नहीं, पूर्णा-

ऽऽनन्द तो अखण्ड ही है। वस इसी प्रकार सबोंको समझ लीजिये ॥१४॥

यदि यह कहो, कि हम आत्म-स्वरूपका अकर्तृत्व दूसरी ही प्रकारसे सिद्ध करेंगे ; अच्छा, वह भी हम जानते हैं, परन्तु उसका भी खण्डन हमारे पहले दिये हुए उत्तरसे ही हो जाएगा, सुनिये हम ही वता देते हैं--

कर्तृत्वाऽभाववान् नाऽयमकर्ता किं तु सोच्यते ॥
अकर्ता यस्य कर्ता नो विद्यते इति चेन्मतम् ॥ १५ ॥

कर्तृत्वके अभावसे युक्त यह परमेश्वर अकर्ता नहीं, किन्तु वह इस प्रकार अकर्ता कहा जाता है, कि जिसका कोई कर्ता नहीं, इस प्रकार यदि मानोगे, तो, तात्पर्य यह, कि कर्तृत्वके अभावसे युक्त होनेके कारण हम परमात्माको अकर्ता नहीं कहते, किन्तु उस परमात्माको उसका वनाने वाला कोई नहीं है, अतः उसको अकर्ता कहते हैं ; यदि ऐसा मानो तो हम यह पूछते हैं, कि उसका बनाने वाला नहीं है ; क्यों नहीं है ? क्या ऐसा मान लेनेसे उसकी अपूर्णता नहीं ज्ञात

होती ? कारण यह, कि आपके मताऽनुसार इस अकर्ता-पदका अर्थ यही होगा, कि जन्यत्वाऽभाववान् तब हम यह पूछते हैं, कि जन्यत्वाऽभाव माननेसे अपूर्णता-दोष दूर हो जाएगा ? अजी क्या कर रहे हो, ऐसे, इधरसे उधर ना-समझी करनेसे बहुत फंस जाओगे, अतः इन बातोंको छोड़ो ॥१५॥

यदि पुनरपि हठ ही तुम्हारा होगा, कि जन्यत्वाऽभाववान् ही है, तो फिर हम उत्तर देते हैं, एकाग्र-चित्त से सुनिये—

तदेवोत्तरमत्राऽपि कर्तृत्वज्ञानमन्तरा ॥
अकर्तृत्वज्ञानमेव नोदेतीति पुनर्मम ॥ १६ ॥

वही उत्तर यहां भी है, कि कर्तृत्व-ज्ञानके विना अकर्तृत्व-ज्ञान ही नहीं हो सकता। यही तो फिर हम कहते हैं। तात्पर्य यह, कि कर्तृत्व-ज्ञानके विना स्थिति नहीं हो सकती। अर्थात् पहले यह ज्ञात हो जाए, कि कर्ता क्या है ? एवं कर्तृत्व क्या है ? पश्चात् ज्ञात हो सकता है, कि अकर्तृत्व क्या है ? तथा अकर्ता किसे

कहते हैं ? अतः हम वही उत्तर पुनः यहां भी देंगे, कि कर्तृत्व-ज्ञानके विना अकर्तृत्व-ज्ञान उत्पन्न ही नहीं हो सकता। इस बातका विवरण इसी प्रकरणके नवम कारिकामें किया जा चुका है। यहां थोड़ा सा दूसरी प्रकारसे समझाए देते हैं। देखिये, परमेश्वरका कोई बनाने वाला नहीं है, इस बातको जाननेकेलिये पहले इस बातको जानना होगा, कि बनाने वाला अर्थात् कर्ता कौन है, तथा किसका है। यदि जगत् वस्तु कुछ है ही नहीं, तो फिर बनाने वाला यह ज्ञान कैसे होगा ? अथच परमेश्वरका बनाने वाला कोई नहीं है, यह बात भी कैसे ज्ञात होगी ? यदि यह कहो, कि भ्रान्ति-कृत व्यवहार लेकर भ्रान्त-कर्ताके ज्ञानसे हम कहेंगे, कि हमें परमेश्वरका कर्ता कोई नहीं, ऐसा ज्ञान होता है, तो हम यह कहते हैं, कि आप भ्रान्तिको जो स्वीकार करते हैं, क्या उसको आत्म-स्वरूपसे पृथक् मानते हैं ? इस पर आप यही तो कहेंगे न, कि भ्रम तो भ्रम ही है, उसकी कोई सत्ता नहीं। वाह जी ! ये क्या परस्पर विरोधी बातें ? क्या उसकी अर्थात् जगत्की भ्रान्त सत्ता भी नहीं ?

यदि है, तो पुनः वह असत् कैसा ? हमारा यह कहना थोड़ा ही है, कि आप भ्रान्त सत्ता भी न मानें, या जगत्को सत्य मानें । अजी ! जगत्को तो सत्य अर्थात् पृथक्-रूपसे सत्य हम भी नहीं मानते । पर हां, हम तो भ्रान्ति भी नहीं मानते । हम तो सब कुछ आत्म-स्वरूप हैं, ऐसा कहते हैं । तथा आप भ्रान्ति भ्रान्ति कह कर भ्रान्तिमें ही रह कर निर्भ्रान्त आत्म-स्वरूपका परिचय अकर्तृ-रूपसे कराते हैं । जब तक आप निर्भ्रान्त परिपूर्ण-स्वरूप न हो जाएं, तब तक यह भ्रान्ति नहीं मिट सकती । अतः आपका यह कहना अर्थात् कि हम कर्तृत्व-ज्ञानके विना ही अकर्तृत्व-ज्ञान सम्पादन कर लेते हैं, यह वृथा ही है । अतः यहां तकके विवरणसे यह सिद्ध हो गया, कि आत्माको एक-देशी रूपसे कर्त्ता कहना या अकर्त्ता कहना, दोनों भी पूर्णरूपसे ठीक नहीं । अस्तु ॥१६॥

अब हमारा मत क्या है ? इस बातको भली भांति पुनः समझाते हुए, प्रकरणका उपसंहार करेंगे सुनिये हमारा मत यह है—

अस्मन्मते जडत्वं न कदाऽप्यापतति ध्रुवम् ॥
आत्मनः पूर्णकर्तृत्वात् स्वविलासस्वरूपिणः ॥ १७॥

हमारे मतमें कभी भी जड़त्वकी आपत्ति नहीं आ सकती, यह निश्चय है। कारण, आत्मा आत्म-विलास-स्वरूप है। अतः पूर्ण-कर्त्ता है। तात्पर्य यह, "केवल अकर्तृत्व माननेसे अपूर्णता नहीं आ सकती, तथा जगत् कुछ है ही नहीं, अर्थात् वह भ्रम-मात्र है। अतः तन्निरूपित कर्तृत्व आत्मामें आ ही नहीं सकता" ऐसा माननेवालोंको आत्माऽनुग्रह-वञ्चनासे जड़त्व जो आया था, वह हमारे मतमें कभी भी नहीं आ सकता। यह बात निश्चित हो चुकी है। कारण, हम तो आत्म-स्वरूपको पूर्ण-कर्त्ता कहते हैं। कारण, यह अपने विलास-स्वरूपसे सब कुछ कर सकता है। अतः हमारे मतमें कोई दोष नहीं आ सकता ॥१७॥

देखिये, आत्म-स्वरूपकी पूर्ण-कर्तृता सिद्ध करनेकेलिये कोई आपत्ति ही नहीं। सुनिये—

यस्य कल्पनया भातः कर्तृताऽकर्तृते उभे ॥
निराबाधा कल्पकस्य न सा किं पूर्णकर्तृता ॥ १८ ॥

जिसकी कल्पनासे कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व दोनों चमकते हैं, उस कल्पना करनेवालेकी, वह पूर्ण-कर्तृता अकुण्ठित क्या नहीं सिद्ध होती ? तात्पर्य यह, कि जिसकी कल्पना-मात्रसे कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व दोनोंको सत्ता, चित्ता, तथा आनन्दता मिलती है, उस कल्पककी, उस पूर्ण कर्तृतामें कौन सा भला बाध है ? तात्पर्य यह, कि कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व ये दोनों दिखाई देते हैं, एवं उनमें आनन्द भी है, तथा वे चमकते भी हैं, तो उनको न मानना अर्थात् कल्पित सत्ताका भी अङ्गीकार न करना, यह कैसे बनेगा ? हां हमारे मतमें यह सब कल्पित ही कल्पित है। इनकी अपनी स्वतन्त्र कोई सत्ता नहीं। तब इसको भ्रम कहना, इसकी भी कोई आवश्यकता नहीं ! हां, कहनेसे हमारी हानि भी नहीं। अब इसी बातको समझानेकेलिये हमने यह कहा है, कि कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व इन दोनोंके कल्पककी अर्थात् समरस अधिष्ठान-की वह अर्थात् तद्रूप पूर्ण-कर्तृत्व क्या स्वयं सिद्ध नहीं है ? पुनः इस बातको अन्य प्रमाण देनेकी क्या आव-श्यकता है ? ॥१८॥

जाने दो, अब देखिये हम क्या कहते हैं, सुनिये सावधान हो कर—

> अत एतद् द्वयं यस्य सत्तयैव प्रकाशते ॥
> सच्चिदानन्दस्वरूपं वदामः पूर्णकर्तृ तत् ॥ १६ ॥

अतः ये दोनों जिसकी सत्ता-मात्रसे प्रकाशित होते हैं, उस परम तत्त्वको, जो कि सच्चिदानन्द-स्वरूप है, उसको हम पूर्णकर्त्ता कहते हैं। तात्पर्य यह, कि स्वयं सिद्ध महासत्ता-रूप परमतत्त्वके होनेसे ही, जब यह द्वय अर्थात् द्वैत अर्थात् परस्पर विरोधीभाव-मात्र प्रकाशित होते हैं, अतः वह परम तत्त्व जो कि सच्चिदानन्द अपना रूप है, अर्थात् सच्चिदानन्दका समरस एक-मात्र कन्द भी है, समझानेकेलिए हमने पूर्ण-कर्तृ-रूपसे उसका वर्णन किया है, वस्तुतः वह वाणीका या सिद्धि असिद्धिका पूर्णरूपसे विषय नहीं हो सकता। कारण यह, कि सिद्धि एवं असिद्धि इनके उत्पन्न होनेके पहले भी जो विराजमान है, उसको पूर्ण-कर्त्ता सिद्ध किस प्रकार किया जाएगा ? कारण, असिद्ध तो वह आत्म-स्वरूप हो ही नहीं सकता। तथा सिद्धका सिद्ध भी करना कैसे हो

सकता है ? इस बातको दूसरे प्रकरणमें कहा जा चुका है। अस्तु ॥१९॥

श्रुति-स्मृति-आदि समस्त ग्रन्थोंमें जो परस्पर विरोध देखनेमें आते हैं, वे वस्तुतः विरोध नहीं हैं। उन-सभोंका समन्वय करनेसे जो फलित सिद्ध होता है, वह भी सुन लीजिये—

श्रुतीनामपि सर्वासां तात्पर्यं पूर्णकर्तरि ॥
एकाङ्गविकले तत्र नाऽकर्तरि न कर्तरि ॥ २० ॥

सम्पूर्ण वेदोंका भी तात्पर्य पूर्ण कर्त्तामें ही है। एकाङ्ग-विकल, चाहे वह कर्त्ता हो, या अकर्त्ता, दोनोंमेंसे केवल आपेक्षिक एकमें नहीं है। तात्पर्य यह है, कि श्रुतियोंमें; श्रुति-शब्द, यहां पर सम्पूर्ण ग्रन्थोंका उपलक्षक है, अतः ऐसा समझना कि सम्पूर्ण ग्रन्थोंमें जो इस विषयमें विरुद्ध विरुद्ध रूपसे वर्णन मिलते हैं; वह सर्व-सामञ्जस्य-समन्वयसे विचार करनेसे सम्पूर्ण विरोध चित्र-सर्पके समान वहींके वहीं टूट जाते हैं। तथा यह बात प्रकट हो जाती है, कि सबोंका तात्पर्य अर्थात् समाप्ति एक

अद्वितीय पूर्ण-कर्त्तामें है। कर्तृत्वाऽभाववान् अकर्त्तामें नहीं। कारण, वह एकाङ्गसे विकल है। अर्थात् अपूर्ण है। तथा अकर्तृत्वाऽभाववान् कर्त्तामें भी नहीं है। कारण, वह भी एकाङ्ग-विकल है। अर्थात् दोनों ही अपूर्ण हैं। तथा अपूर्णमें अन्त नहीं हो सकता। यदि हठसे मान लिया जाए, तो भी शान्ति नहीं हो सकती। तात्पर्य यह है, कि वस्तुका स्वयं सिद्ध जो स्वरूप है, उसीमें समाप्ति हो सकती है, कल्पितमें समाप्ति नहीं हो सकती। अतः उस स्वरूपको समझानेकेलिये "पूर्ण-कर्त्ता" हमने कहा है। वस्तुतः उसका कहना सुनना नहीं हो सकता ॥२८॥

यदेव पूर्णं कर्तृत्वमकर्तृत्वं तदेव हि ॥
एतत्स्वयं भगवता प्रोक्तं तत्त्वं किरीटिने ॥ २९ ॥

जो ही पूर्ण-कर्तृत्व है, वही अकर्तृत्व है, यह निश्चित है। इस बातको स्वयं भगवान्ने किरीटीसे कहा था। तात्पर्य यह है, कि कुछ वेदान्ती जो कि वस्तुतः वेदान्ती हैं, तथा उन्होंने समझानेके लिये आत्म-स्वरूप-को अकर्ता कहा है। जैसे कि गौड़पादाचार्य, शङ्कराचार्य

आदि; उन्होंने जो आत्म-स्वरूपको अकर्ता कहा है, उसका तात्पर्य भी पूर्ण-कर्तामें ही है। निरपेक्ष अकर्तृत्व तथा पूर्ण-कर्तृत्व एक ही है। इस तत्त्वको भगवान्‌ने श्रीकृष्ण-रूपसे स्वयं अर्जुनको गीतामें समझाया है। तात्पर्य यह है, कि बहुतसे लोग गीताके तत्त्वको न समझ कर तथा आत्म-स्वरूपके अकर्तृत्व-को ही समझ बैठते हैं, कि ठीक है। तथा साथ साथ कर्तृत्वसे घोर विरोध प्रकट करते हैं, परन्तु ऐसा करना गीताके तत्त्वको कलङ्कित करना है। जब गीता ही इस बातसे नहीं बच सकती, तो फिर आचार्य शङ्कर कैसे बच सकते हैं ? लोग यह नहीं समझते, कि ब्रह्म-को सर्व-शक्ति-स्वरूप कहने वाले शङ्कराचार्य कर्तृत्वके विरोधी कैसे हो सकते हैं ? निरपेक्ष कर्तृत्व ही तो पूर्ण कर्तृत्व है। अस्तु ॥२१॥

अब हम यह दिखाते हैं, कि पूर्ण-कर्तृता सापेक्ष नहीं है। सुनिए—

यथा सङ्ख्यातिगा सङ्ख्या परात्मन्येकरूपिणी ॥
कर्तृताऽकर्तृताऽस्पृष्टा तथेयं पूर्णकर्तृता ॥ २२ ॥

जिस प्रकार सम्पूर्ण सङ्ख्याओंसे अतीत या सम्पूर्ण सङ्ख्याओंमें रहनेवाली जो एक-रूप सङ्ख्या उसको परमात्मामें मान लिया है, उसी प्रकार यह कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व, इनसे अस्पृष्ट पूर्ण-कर्ता है। तात्पर्य यह, कि परब्रह्ममें एक-सङ्ख्या मानते हैं, अर्थात् सब प्रकार से विचार करने पर यह सिद्ध होता है, कि परब्रह्म एक है, परन्तु यह इसकी एकता दोकी विरोधिनी नहीं। तात्पर्य यह है, कि परमात्माको एक है, ऐसा कहने पर, वह दो नहीं है, यह कहना पड़ेगा, एवं दो नहीं है, ऐसा कहने पर पुनः वही अपूर्णताका झगड़ा खड़ा हो जाएगा। अतः सूक्ष्म-दृष्टिसे, पूर्ण-रूपसे विचार करना पड़ता है, कि यह बात क्या है ? विचारसे ज्ञात हो जाता है, कि यह एक-सङ्ख्या आपेक्षिक नहीं, किन्तु पूर्णताको समझानेके लिये पूर्णताकी ही द्योतक सङ्ख्याऽतीत एवं सङ्ख्या-मात्रमें रहने वाली, ऐसी सङ्ख्या है। तात्पर्य यह, कि कोई भी अङ्क लीजिये, उसमें एक अवश्य रहेगा। एक यदि न हो, तो वह सङ्ख्या ही नहीं रह सकती। इसी प्रकार सम्पूर्ण

सङ्ख्याओंका अन्त एकमें ही होता है। चाहे वह न समझमें आनेके कारण शून्य भले ही कहा जाए। तात्पर्य यह, कि शून्य एकसे पृथक् नहीं हो सकता। अर्थात् शून्यमें भी तो वह एक सङ्ख्या विद्यमान है। अतः यह भी कहना पड़ता है, कि शून्यका भी अन्तिम स्वरूप एक ही है। वह शून्य विलास-रूप है। तथा एक आत्म स्वरूप, शून्य तथा एक, एक ही है। एकमें शून्य है, एवं शून्यमें एक है। केवल समझानेकेलिये अर्थात् उस परम तत्त्वको विलास-रूपसे पूर्ण दिखानेकेलिये शून्यको एकके ऊपर लगाया जाता है। अनन्तर उसको दस कहते हैं। दसका तात्पर्य यह है, कि एककी शक्ति अर्थात् भीतर छिपी शक्ति इस समय प्रकट है, तथा एकत्व उस सबमें अप्रकट-रूपसे पूर्ण भरा हुआ है। इसी प्रकार एक अङ्कसे यह ज्ञात होता है, कि उसका विलास-स्वरूप अर्थात विकसितता अर्थात् नानारूपसे प्रकटता भीतर अप्रकट रूपसे परिपूर्ण है। तथा बाहर एक-रूपसे प्रकट है। बस यही आत्म-स्वरूप है। अत एव वेदोंमें यह कहा है, कि परमात्मा पुनरपि दस अङ्गुल अधिक शेष

ही रहता है। अस्तु। इसका विचार इस स्थान पर नहीं किया जाएगा, यहां तो केवल हमने यह दिखाना है, कि जहां कुछ भी न सूझता हो, वहां अधिष्ठानकी शेष-रूप एकता ही प्रकट होती है। तात्पर्य यह, कि स्वयं सिद्ध आत्म-तत्त्व है, यह कहना ही बताता है कि एक सङ्ख्या स्वयं सिद्ध है, तथा शून्य उसका ही स्वरूप है। बस इसी प्रकार हमने वर्णित की हुई पूर्ण-कर्तृता है। इसमें कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व इन दोनोंका स्पर्श तक नहीं होता। कारण यह, कि जब कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व ये दोनों भाव आत्म-स्वरूपसे पृथक् सत्ता ही नहीं रखते, तो इनका स्पर्श कैसे हो सकता है? कारण स्पर्शाऽस्पर्श-विचार तो द्वैत-दृष्टिमें ही हो सकता है। परिपूर्ण अद्वैत-में इनकी शङ्का ही कहां? हां, यह पूर्ण-कर्तृत्व इसी प्रकारका है, कि अस्पृष्ट ही अर्थात् पूर्ण-निर्मल महा-विद्या-स्वरूप पूर्ण-स्वतन्त्र एकमेवाऽद्वितीय सच्चिदानन्द समरस है। अतः यहां कर्तृत्व तथा अकर्तृत्वके बना-वटी झगड़े होने पर भी पूर्ण-कर्तृत्व होनेके कारण अपने आपके सर्वदा विलासका ही अनुभव होता है। अतः सम्पूर्ण वाद तथा उनकी सिद्धियां एवं असिद्धियां,

चाहे वे भ्रमसे भी क्यों न मान ली जाएं, सभी एक आत्म-विलास स्वरूप पूर्ण हो रहता है। अनन्तर नमक-के पुतलोंकी समुद्रमें बहुत ढूंढने पर भी, जैसे प्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार इस पूर्ण-कर्तृ आत्म-स्वरूपमें बनावटी पनकी प्राप्ति नहीं होती। हां, यह बात अन्य है; कि जभी वह आत्म-स्वरुप, इच्छा करे, तभी एक दो क्या करोड़ों पदार्थोंकी सृष्टि कर डालता है, उनकी रखवाली भी करता है, अनन्तर उनकी कटाई भी। इसको एक अलौकिक किसान ही समझ लो, किसान ही क्या, सब कुछ है, तथा कुछ भी नहीं है। सब किसीमें है, तथा किसीमें नहीं है। सब कुछ इसमें है, एवं कुछ भी इसमें नहीं है। बस तात्पर्य यह है, कि जो कुछ कहो, वह ठीक भी एवं त्रुटित भी। कारण, यह परिपूर्ण आत्म-स्वरूप स्वसंवेद्य ही है ॥२२॥

अब आत्म-स्वरूपसे प्रार्थना करते हुए, तथा बहिर्दृष्टिसे आशीर्वाद देते हुए, प्रकरणका फलित सिद्धान्त कहते हैं। सुनिये—

कृतकृत्ये नित्यतृप्ते स्वात्मारामे निरन्तरम् ॥
विज्ञाय पूर्णकर्तृत्वं रमध्वं पूर्णकर्तरि ॥ २३ ॥

कृत-कृत्य नित्य-तृप्त अपने आपमें सर्वदा आराम करने वाले आत्म-स्वरूपमें, उसके पूर्ण-कर्तृत्वका अनुभव करके पूर्ण-कर्तृ-स्वरूप अपने आप सर्वदा रममाण होवें। तात्पर्य यह है, कि इस प्रकरणका सारांश यह है, कि अपने आपमें क्रीड़ा करना अर्थात् रममाण होना यह प्रतिपाद्य है, तथा उसका उपाय भी इसमें बतलाया है। अपने आपका स्वभाव-भूत पूर्ण-कर्तृत्व, यावत्काल ज्ञात न हो, तावत्काल उसमें रमण हो नहीं सकता। केवल ज्ञानसे भी काम नहीं बनता। किन्तु उस ज्ञानको पराकाष्ठा पर्यन्त विकसित करना होता है। अर्थात् विज्ञान-दशा-पर्यन्त पहुंचाना होता है। तथा विज्ञान जब परिपूर्ण विकसित हो जाता है, तो पूर्ण-कर्तृत्व-रूप अपना आत्म-स्वरूप विज्ञात हो जाता है। अनन्तर पूर्ण रमण होता है। अतः वह कृतकृत्य हो जाता है। अर्थात् उसकेलिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। अत एव वह पूर्ण आनन्द पाता है। वैसे तो आत्म-स्वरूप सर्वदा ही

नित्य-तृप्त ही है। पुनरपि अपने नित्य-तृप्तिका आनन्द लेनेकेलिये अर्थात् प्रकाराऽन्तरसे आनन्द लेनेकेलिये अपने आपको अतृप्त सा वना कर फिर तृप्ति पाता है। तात्पर्य यह है, कि अपने आपको अतृप्तकी भांति कल्पित करना भी, एक नित्य-तृप्तका रमण-मात्र है। अत एव यह अपने आत्म-स्वरूपमें ही सर्वदा तथा सर्वतो भावेन तथा सर्व-प्रकारसे रममाण होता है। कारण, उसका अपना स्वभाव ही है, कि पूर्ण-कर्त्ता रहना, अर्थात् कर्तृत्वके जितने ही चमत्कार उल्लासित किये जाएं, वा उनके विरोधी, उन दोनोंका उल्लासन करनेमें यह पूर्ण समर्थ है। वस इसीप्रकार अपने आपका अनुभव कर लेने पर, पश्चात् एक ही वात रहती है क्या? कि सर्वदा अपने आपमें अर्थात् अपने पूर्ण-कर्तृत्वमें पूर्ण-कर्तृत्वका अनुभव लेते हुए रममाण होना। अतः जिनको अपने पूर्ण-कर्तृत्वका अनुभव विकसित-भावसे न विज्ञात हुआ हो उनको चाहिये, कि वे भी अपने पूर्ण-कर्तृत्वका अनुभव करें, अर्थात् "मैं पूर्ण-कर्त्ता आत्म-स्वरूप हूँ" ऐसा सद्गुरुसे समझ लें। अनन्तर यथेच्छ क्रीड़ा करें ॥२३॥

अब प्रकरणका फल-स्वरूप सिद्धान्त-भूत अन्तिम, तन्त्रसे मङ्गलाचरणके साथ प्रकरण-समाप्ति की जाती है। सुनिये—

कुर्वन् सदैव वसुधादिशिवान्ततत्त्व-
रूपं प्रपञ्चमखिलं स्वविलासमात्रात्॥
कर्तृत्वलेशरहितः खलु योऽद्वितीयः
स्वात्मा सदैव ननु राजति पूर्णकर्ता ॥ २४ ॥

सर्वदा ही पृथिवीसे ले कर शिव-पर्यन्त तत्त्व-स्वरूपी सम्पूर्ण प्रपञ्चको अपने विलास-मात्रसे करता हुआ, कर्तृत्वके लेशसे भी रहित, जो कि अद्वितीय है, ऐसा निश्चित किया हुआ, अपना आत्म-स्वरूप पूर्ण-कर्त्ता सर्वदा ही निश्चित-रूपसे चमक रहा है। तात्पर्य यह, कि पृथिवीसे ले कर शिव-पर्यन्त छत्तीस तत्त्व कल्पना-तारतम्यसे करता हुआ; वस्तुतः ये सम्पूर्ण तत्त्व, जो कि सम्पूर्ण प्रपञ्च है, यह भी, अपना स्वरूप ही है; केवल इनको अनेक प्रकारसे चमकाना अर्थात् विकासित करना यही इसका करना है। सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह तथा अनुग्रह, ये पांचों कृत्य क्रिया-शक्तिमें अन्तर्भूत

हो जाते हैं। तथा यह क्रिया-शक्ति स्थूल-रूपसे क्रिया शक्ति कहलाती है। यदि इसीको सूक्ष्म-दृष्टिसे देखा जाए, तो यही ज्ञान-शक्ति-रूप हो जाती है। यदि अधिक सूक्ष्म-दृष्टिसे देखा जाए, तो यही इच्छा-शक्ति दिखाई देगी। इन तीनोंका पूर्ण सामरस्य ही विलास है। तथा विलास आत्म-स्वरूप है। वस्तुतः सारा ही आत्म-स्वरूप ही है। इस मतमें 'है' 'प्रकाशित हो रहा है' तथा 'आनन्द-स्वरूप है' तथा इसी कारण करोड़ों इसके नाम हैं, तथा करोड़ों इसके रूप हैं। यह सम्पूर्ण कहना सुनना एक ही वस्तुका है। अर्थात् आत्म-विलाससे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। आत्म-स्वरूपसे अतिरिक्त की शङ्का आज पर्यन्त किसीको हुई ही नहीं, अतः उसका समाधान भी करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। कारण, जो जो शङ्का होती है, वह वह किसी वस्तुकी ही होती है। वस्तु अप्रकट होनेसे शङ्का होती है, तथा उसके प्रकट होनेसे वह शङ्का भी मिट जाती है। शङ्का-का होना तथा मिटना यह भी आत्म-विलास ही है। यह कोई दूसरी बात नहीं। अस्तु। यह सब कुछ केवल

अपने स्वरूप विलाससे उपपन्न है। इतना होते हुए भी अपूर्णताको प्राप्त कराने वाला, केवल अर्थात् कल्पित कर्तृत्व लेश-भर भी अर्थात् किञ्चिन्मात्र भी यहां नहीं होता, अर्थात् कर्तृत्वके लेशसे यह रहित ही है। इस-का कारण हम कई वार बता चुके हैं। तात्पर्य यह है, कि कर्तृत्व कोई वस्त्वन्तर नहीं, कि उसका लेश यहां रह सके, जो एक ही वस्तु है, तो उसका रहना या न रहना, यह शङ्का ही क्या? यदि कोई कहे, कि मनुष्य-में मनुष्य है, कि नहीं, अर्थात् अपने आपमें कोई रहता है, कि नहीं, क्या यह शङ्काके योग्य बात है? बस इसी प्रकार कर्तृत्वकी शङ्का या समाधान आत्म-स्वरूपमें अयोग्य ही है। इस पर भी यदि कोई हठसे करे ही, तो हम यह कहेंगे, कि, है भी, तथा नहीं भी, इस बात-का अभी तक निश्चय करा दिया गया है। कारण, जो यह आत्म-स्वरूप अद्वितीय है, अर्थात् जब दूसरा कोई है ही नहीं, तब इसके जैसा यही है, यही कहना होता है, अत एव यह बात भी निश्चित हो गई, कि सदा ही पूर्ण-कर्तृ-स्वरूप पूर्णनिर्मल, पूर्णस्वतन्त्र महाविद्यास्वरूप

अपने आप विलास-स्वरूप यह आत्मदेव सदा ही प्रकाशमान है। इस बातको दूसरे प्रकरणकी प्रथम कारिकामें कहा गया है। अस्तु ॥२४॥

अब प्रकरणकी समाप्ति की जाती है—

पूर्णकर्तृस्वरूपेण पूर्णकर्तृस्वरूपिणः ॥
पूर्णकर्तृत्वस्वरूपं स्वानन्दाय निरूपितम् ॥ २५ ॥

पूर्ण-कर्तृस्वरूपने पूर्ण-कर्तृस्वरूपीके पूर्ण-कर्तृत्व-स्वरूपका अपने आनन्दकेलिये निरूपण किया। तात्पर्य यह, कि इस प्रकरणका निरूपण अपने आत्माऽऽनन्दके-लिये हुआ, तथा इसका निरूपण करनेवाला भी पूर्ण-कर्तृस्वरूप ही है, तथा पूर्ण-कर्तृत्व-स्वरूप, जो कि निरूपण किया गया, वह भी पूर्ण-कर्तृ-स्वरूपका ही समरस है। तात्पर्य, कि निरूप्य, निरूपक, निरूपण, तथा उसका प्रतियोगी, तथा उद्देश अर्थात् कारणसे लेकर फल-पर्यन्त एक ही एक समरस पूर्ण-कर्तृ आत्म स्वरूप है। ऐसा अनुभव करना चाहिये। अनन्तर गुण भी तथा दोष भी सब पूर्ण गुण ही हो जाएंगे। तदन-

न्तर पूर्ण शान्ति प्रकट हो जाएगी, तथा अपने आपका अन्तिम अर्थात् सर्वोत्कृष्ट अभिलषित पूर्ण हो जाएगा। इति ॥ शिवमस्तु ॥२५॥

इति श्री-महामहिम-आचार्य-श्रीमदमृतवाग्भवसमुल्लासिते
स्वोपज्ञ 'सुन्दरी' इत्याख्यराष्ट्रभाषाव्याख्यासमुल्लासिते
आत्मविलासे पूर्णकर्तृत्वस्वरूपनिरूपणं
नाम षष्ठं प्रकरणम्।

——:o:——



॥ श्रीः ॥

अन्तिमं प्रकरणम् ।



उपसंहारः ।

अब ग्रन्थकर्तृ-परिचय आदि उपसंहार कहते हैं—

वैराग्यज्ञानभक्त्याद्यनादृतस्वजगत्पथः ॥
वदान्यपरमाऽपारकरुणालोलसत्कुलः ॥ १ ॥

वैराग्य, ज्ञान, भक्ति आदिसे अनादृत किया है, जगत्का मार्ग जिसने, तथा मांगे हुएसे भी अधिक देने-वाले परशिवके अपार करुणामें सतृष्ण, अत एव शोभन जिसका कुल है, तात्पर्य यह, कि संसार-मार्गका जिसने अनादर किया है, कारण यह, कि बहिर्दृष्टिसे देखने पर संसार असार ही है, आत्म-दृष्टिसे देखने पर तो संसार आत्म-स्वरूप ही ज्ञात होता है, अर्थात् पुनरपि संसार कोई पृथक् वस्तु जब रहती ही नहीं, तब उसका

ग्रहण या त्याग भी कुछ नहीं, हां, ब्रह्म-दृष्टिसे देखने पर यह ज्ञात हुआ, कि संसार प्रतिक्षण नश्यमान है, तब इसके पीछे दौड़ना वृथा ही है, अर्थात् इसको पकड़नेसे हाथ क्या आएगा ? कुछ भी नहीं, कारण यह, कि इसकी अपनी पृथक् सत्ता ही जब कुछ नहीं, तो हाथ क्या आएगा ? हां, इसका स्वरूप तो आत्मदेव ही है, तथा वह तो अपने आप एक ही है, तो उसको पकड़ना, यह तो कल्पनामात्र ही है, अर्थात् वह तो कहीं छूटा ही नहीं, कि उसको पकड़ा जाए। बस अत एव संसार-पथका जिसने अनादर किया है, अर्थात् उसका आदर नहीं किया। जैसे कि ब्रह्म-दृष्टिसे मूर्ख लोग किया करते हैं। तथा यह बात भी वैराग्य अर्थात् कल्पित सृष्टिमें दोष-दर्शन होनेके कारण उनको न लेनेकी इच्छा, तथा इसी कारण उससे ज्ञान प्रकाशित हुआ। तात्पर्य यह, कि सदसद्वस्तुका विवेक हुआ। इस कारण अपने आपमें अपने आप ही आत्माऽनुसन्धान-रूप भक्ति भी प्रकट हुई। तात्पर्य यह, कि सर्वत्र आत्म-स्वरूपका ही बिना कुछ किये कराये ही भास होने लगा, तदनन्तर एतत्फल-स्वरूप

मन्त्र-जपादि भी विज्ञानमें परिणत हो गया। पश्चात् यह निश्चित हो गया, कि बस सब कुछ आत्म-स्वरूप है, अनन्तर इसका विज्ञान भी कुछ हो गया। ये सारी बातें उस परम दयालु परमेश्वर शम्भुकी ही महिमा है। कारण, वह मांगने वालोंको मांगी हुई वस्तु तो देता ही है; तथा विशेषता यह है, कि बिना मांगे ही बहुत कुछ दे देता है, अर्थात् मांगनेसे भी अधिक दिया करता है। अतः यह सर्वोत्कृष्ट सर्व-स्वरूप शम्भु ही सब कुछ है, तथा उसी पर-शक्ति स्वरूप पर-शम्भुके पार-रहित करुणामें सतृष्ण अर्थात् एकमात्र उस प्रभुकी करुणाकी इच्छा करने वाला, अत एव शुद्ध सदाचार-सम्पन्न जिसका कुल है। तात्पर्य यह, कि शिव-शक्तिकी अभेद-भक्ति जिसकी कुल-परम्परासे ही आई हुई है। तात्पर्य यह, कि इस प्रकारके उत्तम ग्रन्थको प्रणयन करनेकेलिये सामग्री स्वयं ही आ कर उपस्थित हुई। इसकेलिये इस शारीरिक कल्पित जन्ममें कुछ परिश्रम नहीं करना पड़ा है। कारण, ये बातें कुल-परम्परासे आनेके कारण अनायास ही प्राप्त हुई हैं ॥१॥

अन्तर्वेदिसमुद्भूतः कोऽपि विद्वदपश्चिमः ॥
पङ्क्तिपावनविप्राणामुत्पन्नो विदुषां कुले ॥ २ ॥

वह यह ग्रन्थकार इस शरीरसे अन्तर्वेदिमें उत्पन्न हुआ हुआ, अर्थात् गङ्गा तथा यमुना इन दो वेद-लोक-प्रसिद्ध पुण्यतम महानदियोंके मध्य प्रदेशमें इसकी उत्पत्ति हुई है, तथा यह विद्वानोंमें पीछे नहीं, अर्थात् विद्वानोंमें इसकी गिनती पहले ही करने योग्य है, ऐसा, पङ्क्ति-पावन विप्रोंके, जोकि विद्वान् विप्र हैं, अर्थात् जन्म संस्कार एवं विद्या इन सभीसे तथा सनातन आचारसे सम्पन्न श्रोत्रिय एवं आत्माऽनुभवी ब्राह्मणोंके कुलमें जो उत्पन्न हुआ है ॥२॥

ग्रामे हवाल इत्याख्ये शुभे काश्मीरमण्डले ॥
कपालमोचनात्तीर्थादुदीच्यां सार्धयोजने ॥ ३ ॥

सुन्दर काश्मीर देशमें 'हवाल' नामक ग्राममें जो कि ग्राम, कपाल-मोचन नामक तीर्थसे उत्तरकी ओर सार्धयोजन अर्थात् साढ़े सात मील पर है, वहां—॥३॥

प्रसङ्गतः समायातः काश्मीरालोकनोत्सुकः ॥
उवास कश्चित् समयं स्वानन्दरसनिर्भरः ॥ ४ ॥

प्रसङ्गसे काश्मीर देखनेकी उत्कण्ठासे चला आया। एवं स्वात्माऽऽनन्दके रसमें निर्भर अर्थात् अपने आत्माऽऽनन्द-रसमें ही परिनिष्ठित कुछ समय रहा ॥४॥

रमण्याटव्यधिगता कुल्या यत्र विराजते ॥
ग्रामीणविप्रैः संसेव्या स्नानपानादिकर्मसु ॥ ५ ॥

जिस 'हवाल' नामक ग्राममें रमण्याटवीसे निकली हुई नहर बहती है, अर्थात् रम्बिआरेकी नहर जहां शोभित हो रही है, जिसका उस ग्रामके ब्राह्मण नहाने पीने आदि अर्थात् सन्ध्या आदि कामोंमें उपयोग करते हैं ॥५॥

महागणेशो यत्राऽऽस्ते वीडा भगवती च सा ॥
प्रकटीभूय भक्तानामनुग्रहचिकीर्षया ॥ ६ ॥

जहां पर अर्थात् 'हवाल' ग्राममें, महागणेश रहते हैं। तथा वह वीडा भगवती भक्तोंके ऊपर अनुग्रह करने की इच्छासे प्रकट होकर विराजमान है। तात्पर्य यह है, कि उस 'हवाल' ग्राममें महागणेशका अति प्राचीन तथा इष्ट-सिद्धि-प्रद एक स्थान है, तथा कोई डेढ़ सौ वर्ष पूर्व उसी ग्रामके एक ब्राह्मण भक्तके ऊपर उसकी

वृद्धाऽवस्थामें अनुग्रह करनेकी इच्छासे उस स्थानसे ग्यारा मील जङ्गलमें 'वेडगिरी'नामक पर्वत पर उसकी अधिष्ठात्री देवी वीडा भगवती जिसको कि 'हंसवागीश्वरी' भी प्राचीन ग्रन्थोंमें कहा है, जो कि काश्मीरके मुख्य दो चार स्थानोंमेंसे एक प्रधान स्थान है, वह जिस 'हवाल'ग्राममें प्रकट हो कर विराज रही है ॥ ६ ॥

तत्रत्य"कण्ठभट्टा"ख्यब्राह्मणप्रार्थना द्रुतः ॥
ग्रन्थमात्मविलासाख्यं जग्रन्थ सुमनोरमम् ॥ ७ ॥

उस हवाल ग्रामके रहने वाले कण्ठ भट्ट नामक एक ब्राह्मणकी प्रार्थनासे द्रुत होकर अर्थात् करुणासे "आत्म-विलास" नामक इस ग्रन्थको, जोकि अत्यन्त सुन्दर है ; अत एव सज्जनोंके हृदयको आनन्द देनेवाला है । सज्जनोंको ही क्या ; देवताओंको भी आनन्द देगा, ऐसे इस ग्रन्थको बनाया । तात्पर्य यह, कि दैवी सम्पत्तिसे सम्पन्न पुरुषोंको यह "आत्मविलास" नामक ग्रन्थ अत्यन्त आनन्द देगा ॥७॥

कालकालो बालचन्द्रभालः कामप्रदो वशी ॥
वाग्गास्यप्रसूज्ञानिः प्रीयतां परमो रसी ॥ ८॥

जो कालका काल है, बालचन्द्र जिसके भालमें है, जो कामनाओंको पूर्ण करने वाला है, तथा जो कामदेवका नाश करने वाला है, जो स्वयं अपनी इच्छामें रहने वाला है, जो गजाननकी माताका प्रिय पति है, जो कि रस-स्वरूप है, जो अत्यन्त उत्कृष्ट पर शिव है, वह प्रसन्न हो। तात्पर्य यह, कि इस ग्रन्थसे परम-महेश्वर जो कि स्वयं अपने आपमें ही सर्वदा विराजमान है, अर्थात् जिसकी इच्छा स्वतन्त्र है, अर्थात् दूसरा कल्पित कोई इसको वश नहीं कर सकता, जो कामको भली प्रकारसे नष्ट कर देने वाला है; अर्थात् कल्पित अशुद्ध कामको जिसने आत्म-स्वरूपमें, अर्थात् स्वरूप-भूत महाविद्या-रूप चिदग्निमें समर्पित कर दिया है। अर्थात् इसको विकारोंका कभी स्पर्श नहीं हो सकता, तथाऽपि अपने कल्पित भक्तों को, पूर्ण-काम करने वाला है, अत एव बालचन्द्रको इसने अपने भालमें धारण किया है, तथा गजाननकी माता जिसकी जाया है, अर्थात् आत्मशक्ति-भूत, अर्थात् आत्मस्वरूप अपनी जाया में जो पुनरपि कारण-भूत फल-स्वरूप गजाननके रूपमें प्रकट होता है, अत एव गजाननको लम्बोदर कहते हैं।

कारण, इसका उदर सम्पूर्ण विश्व है। तात्पर्य, नर-शक्ति-शिवात्मक स्वयं यह आनन्दके लिये अपने आप-को प्रकाशित करता है, तथा पुनरपि अकेलेका अकेला ही रहता है। परम कल्याण-स्वरूप यह पर. शम्भु इस "आत्म-विलास" ग्रन्थसे सन्तुष्ट हो। बस यही प्रार्थना है।८॥

श्रीमद्विक्रमभूपतेरथगते सिंहाधिपे वत्सरे
मासि श्रावणसंज्ञके सितचतुर्दश्यां भृगोर्वासरे ॥
विद्वद्ब्राह्मणसत्कुलोद्भववपुर्विद्वद्वरिष्ठः स्वयं
जग्रन्थाऽऽत्म-विलासमाद्यविदुषां स्वान्ते सुधास्यन्दिनम् ॥९॥

श्रीमान् विक्रम राजासे १९८७ गत वर्षमें श्रावण नामक महीनेमें शुक्ल पक्षकी चतुर्दशी शुक्रवारको विद्वान् ब्राह्मणोंके सदाचारी कुलमें जिसका शरीर उत्पन्न हुआ है, तथा जो स्वयं भी विद्वानोंमें श्रेष्ठ है, इस ग्रन्थकारने प्राचीन विद्वानोंके या अपने पूर्वज विद्वान् पुरुषोंके, तथा आद्य अर्थात् प्रथम-स्वरूप अर्थात् शिव-शक्ति-साम-रस्यात्मक परम-तत्त्वके जानने वालोंके हृदयमें अमृत-की वृष्टि करने वाले इस "आत्मविलास"को अर्थात् यथार्थ-नाम "आत्मविलास" ग्रन्थको बनाया ॥९॥

॥ शिवमस्तु ॥

ज्येष्ठमासे शुक्लपक्षे नवम्यां भृगुवासरे ॥
सिद्धियोगे सूत्तराभे खनन्दनवभूमिते ॥ १ ॥

वैक्रमेऽब्दे निर्मितेयं व्याख्या भाषामयी शुभा ॥
स्वोपज्ञात्मविलासस्य सुन्दरीत्यन्विताऽभिधा ॥ २ ॥

कथिता ग्रन्थकर्त्रैव स्वयमेव यथा तथा ॥
लभ्भुरामेण लिखिता भवतात् भवतुष्टये ॥ ३ ॥

इति श्री–महामहिम-आचार्य-श्रीमदमृतवाग्भवसमुल्लासिते
स्वोपज्ञ 'सुन्दरी' इत्याख्यराष्ट्रभाषाव्याख्या-
समुल्लासिते आत्मविलासे ग्रन्थकर्तृ-
परिचयाद्युपसंहार-निरूपणं नामा-
ऽन्तिमं प्रकरणम् ।

—:0:—





ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ



१. सचित्र श्रीपरशुराम-स्तोत्र

विशेष विवरण भीतर देखें।

मूल्य -)

२. श्रीराष्ट्रालोक

विशेष विवरण भीतर देखें।

मूल्य ≡)

३. आत्मविलासः

ग्रन्थ आपके हाथों में ही है

मूल्य २)

पं० भवानीशंकर त्रिवेदी

प्रबन्धक श्रीमातृभाषा-प्रचारक

ग्रन्थाकर

खूह कौड़ियां, अमृतसर

केवल टाईटल पेज, दुर्गादास प्रेस चौक पासियां

अमृतसर में छपा।

